'इमाः स्त्रियो व्रजस्त्रियो व्यभिचार दुष्टाः' क' ये व्रजस्त्रियां व्यभिचारदुष्ट कैसे हो सकती हैं। व्यभिचार से दुष्ट न होने में 'अवनचरीः' कारण है। वे गोपियां सर्वदा अपने को भगवान् की उपभोग्या मानती थीं इसलिये सदा अपने को अन्य से बचाये रहती थीं। यदि वे व्यभिचारदुष्ट होती तो उनका भगवान् में ऐसा भाव कैसे होता। 'स्वदभावाः' में स्वद पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि उन गोपियों में भगवद्भाव अनवच्छिन्न (कभी न टूटने वाला) था। इसलिये उन गोपियों में भगवान् का रमण बाहर भीतर तथा रातदिन होता रहता था तो उन में भगवद्भाव से रहितता आई कैसे ? उसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है। यहां पर जो विवाहित पति के सम्बन्ध के कारण जो व्यभिचार शब्द से कहा जाने वाला दोष है वह इनमें सर्वथा नहीं है। शङ्का करते हैं कि भगवान् ने जब गान किया 'तब पति की शुश्रूषा करती हुई उसे छोड़ कर भगवान् के पास चली गई', 'कुछ गोपियों को पतियों ने तथा अन्य सम्बन्धियों ने भगवान् के पास जाने के लिये रोका तो भी वे भगवान् के पास चली गई। ऐसा जब कहा है, तो उन गोपियों का पति से सम्बन्ध हो नहीं था ऐसा कैसे कह सकते हैं इस शङ्का का समाधान यह है, कि उन गोपियों का उनके पति के साथ जो सम्बन्ध था वह आभिमानिक था वास्तविक नहीं था। यह 'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति' आदि से स्पष्ट है 'हे कमल नयन! जिस दिन हमने आपके चरणों का स्पर्श किया उसी दिन से हम किसी के सामने ठहरने में भी असमर्थ हो गई हैं, पति पुत्रादि की सेवा तो कर ही कैसे सकती हैं। तथा 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' गोप योग माया से मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी स्त्रियां हमारे पास ही हैं। इत्यादि प्रमाणों से उनका वास्तविक सम्बन्ध नहीं था। एक बात यह भी है, कि 'मन्यमानाः' इस गोपियों के लिये 'दारा' शब्द आया है। दारा शब्द पुल्लिङ्ग है। इस लिये स्त्रीरूप से उनका सम्बन्ध उन गोपों से नहीं था। यदि यह कहा जाय कि आभिमानिक सम्बन्ध भी सदोष ही है तो 'स एतावानास' इसश्रुति से सम्पूर्ण सृष्टि को भगवद्रूप बताया है इस से आभिमानिक दोष निवृत्त हो जाता है। यदि यह आशंका हो, कि भगवान् ने गोपों की पृथक् स्थिति क्यों की, तो उसका उत्तर है, 'रसार्थं' 'स्थित्यर्थंच' अर्थात् रसानुभव के लिये तथा स्थिति रहे इसलिये गोपों को पृथक् स्थिति भगवान् ने ही की। भगवत् सम्बन्ध के पूर्व में भी, उनमें कोई दोष नहीं था और न भगवत्सम्बन्ध के अनन्तर कोई दोष उनमें हैं। क्योंकि उन गोपियों को भगवत्स्वरूपातिरिक्त में भगवदात्मता की स्फूर्त्ति नहीं है। वास्तव में तो फल प्रकरण में होने वाले रमण के पूर्व भी उन गोपियों का स्वप्न में भगवत्सम्बन्ध हो चुका था। ऐसा लक्षित होता है। नहीं तो गोपियां 'अस्प्राक्ष्म' हमने आपके चरणारविन्द का स्पर्श किया 'त्वयाभिरमिताः' आपने हमको आनन्दित किया, इस प्रकार भूतकाल के सम्बन्ध की बात न करतीं। एक बात यह भी है, कि 'दूसरे के सामने जब खड़े रहने में भी असमर्थ हैं तो, उसके आगे होने वाली रमण क्रिया में उनका पास में रहना कैसे संभव हो सकता है ? इसलिये इन गोपाङ्गनाओं का उन गोपों के साथ किसी भी काल में सम्बन्ध नहीं था। भगवान् के सम्बन्ध को तो सदोष कह नहीं सकते सब प्रमाणों का विरोध हो जायगा। अन्तर्गृहगता गोपियों की बुद्धि में भगवान् जार (उपपति) रूप से थे अतः वे सदोष थीं। परमात्मपद से यही बताया है 'तमेव परमात्मानं जार बुद्धयापि सङ्गताः' उसी परमात्मा का उन्होंने जार बुद्धि से आलिङ्गन किया। अतः अन्तर्गृहगताओं का भजन इन गोपिकाओं के सदृश नहीं था। यहां शंका होती है कि ज्ञानादि साधन वालों में पहले गोपिकाओं के समान भाव न होने से, उनको अकृतार्थ बताया तो इन गोपिकाओं ने ज्ञानादि साधनों के अतिरिक्त ऐसा कौन सा साधन किया था जिससे इनको ऐसा फल मिला। इसका समाधान 'नन्वीश्वरः' से किया है। ईश्वर बिना किसी साधन की अपेक्षा सब कुछ

करने में समर्थ है। ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान को पुरुषार्थ का साधक न जानकर ज्ञान के अनन्तर जब भजन करते हैं स्वयं भगवान् उसका श्रेय करते हैं, भगवान् को भजन के अतिरिक्त किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। परन्तु भगवान् ने गीता में कहा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ। इस भगवद् वाक्य से अधिकार के अनुसार फल देते हैं। जहां स्वार्थ सिद्धि के लिये भजन करने वाले का भी भगवान् स्वयं श्रेय करते हैं तो भगवान् के लिये ही भगवान् का भजन करते हैं उनका साक्षात् स्वयं भगवान् श्रेय करते है इस में क्या कहना यह 'अपि' शब्द से बताया हैं जो भगवान् के लिये भगवान् का भजन करते है उनके लिये उनके भजन के अनुरूप श्रेय का सर्वकरणसमर्थ भगवान् के पास भी अभाव है यह 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा' इत्यादि से बताया है। हे गोपियों तुमने कभी जीर्ण होने वाली गृह शृङ्खला को तोड़ कर मेरा भजन किया हैं। यह तुम्हारा मिलन सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओं के समान आयु प्राप्त करके भी इस उपकार का बदला नहीं दे सकता। इसलिये भगवान् जिस प्रकार श्रेय इन गोपियों के लिये करते हैं वैसा दूसरे के लिये नहीं। इसको बताने के लिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त है। जिस तरह बिना किसी अनुपान के अमृत का सेवन करने वाले का अमृत श्रेय करता है उस तरह अमृत का श्रेय अमृत पान करने वाला नहीं करता। इसी तरह यहां स्वार्थ सिद्धि के लिये भजन करने वाले ज्ञानी का अभीष्ट भगवान् करते हैं किन्तु ज्ञानी भगवान् का कुछ अभीष्ठ नही करता क्योंकि ज्ञानी का भजन तो स्वार्थ के लिये है। यहां तो जिस तरह भगवान् गोपियों का अभीष्ठ करते हैं उसी तरह से गोपियां भी भगवान् का अभीष्ट करती हैं।

अथवा निषेध उसी का किया जाता है जिसकी पहले प्राप्ति हो। यहां उस का अभाव है अतः दूसरे प्रकार से इस की व्याख्या की जाती है। 'एताः परं तनुभृतः-' इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में व्रज-सीमन्तिनीयों का सर्वोत्कृष्ट बताया इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में साधनों के द्वारा ऐसा उत्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकता यह बताया तो साधनों के अभाव में इनको ऐसा उत्कर्ष कैसे प्राप्त हुआ। इसे आश्चर्यजनक मानते हुए जहां भगवत्कृपा से सर्वसाधन हीन जातीय पुलिन्दिनियों में भी उत्कर्ष की सिद्धि होती है वहां अङ्गसङ्ग का जिन को अधिकार है उनमें उत्कर्ष हो इस में क्या आश्चर्य है। अतः क्वेमाः स्त्रियः, में पुलिन्दिनियों को सम्बोधित कर के कहा है। अर्थात् कहां तो ये पुलिन्दिनियां और कहां भगवान् में पूर्ण अनुराग। यद्यपि 'ता नमस्यन्निदं जगौ. ऐसा कहने से पुलिन्दिनियों के देखे बहुत समय हो गया इसलिये उन पुलिन्दिनयों के लिये उद्धवजी इदम् शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते इदम् शब्द का प्रयोग वहीं होता है जिसे हम सामने देख रहे हों, किन्तु उद्धवजी उन्हें भावना से देख रहे हों ऐसा समझ करके ही उन्होंने 'इमाः ऐसा कहा। अर्थात् ये पुलिन्दिनियां मानो उन्हें भावना से सामने दीख रही है। यदि पुलिन्दिनियों के पास पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय कोई साधन होता तो संभव था कि उनका भगवान् में अनुराग हो जाता, किन्तु इनके पास तो पुष्टिमार्गीय और मर्यादा मार्गीय दोनों प्रकार के साधनों का अभाव है ऐसा समझ कर 'क्वेमाः' कहा। पुष्टिमार्गीय साधन का अभाव तो 'व्यभिचार दुष्टाः' से ज्ञात होता है। अपने विवाहित पति का भजन करना ही व्यभिचार है, क्योंकि इस पुष्टि-मार्ग में सर्वात्मभाव ही साधन है। उस सर्वात्मयभाव में विवाहित पति का त्याग भी विहित है। 'संत्यज्य सर्वविषमान्' 'पतिसुतान्वय भ्रातृबान्धवान्'। जगत् के यावद्विषय, पति, पुत्र, कुटुम्ब, भाई आदि का त्याग ही इस पुष्टिमार्ग का साधन है। इन पुलिन्दिनियों में ऐसा न होने से व्यभिचारदुष्टता उन में आई जिससे पुष्टिमार्गीय साधन का अभाव सूचित हो गया, मर्यादामार्गीय साधन भी उन में

नहीं था यह 'वनचरी' पद से सूचित है । मर्यादा मार्ग में अधिकारी को ही साधन करने का अधिकार होता है । ये तो वनचरी (बन में घूमने वाली) थीं अर्थात् क्षुद्रजाति की थीं, इसलिये उनका मर्यादा-मार्गीय अधिकार भी नहीं था । पूर्वजन्म का कोई अधिकार हो यह भी नहीं मान सकते, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता । यदि पूर्वजन्म का अधिकार होता तो, वे क्षुद्र जाति में क्यों जन्म लेतीं । तब कैसे उन पुलिन्दिनियों में भगवद्भाव हुआ ? इसका उत्तर 'नन्वीश्वरः' पद से दिया है । भगवान् ईश्वर हैं अर्थात् किसी साधन की अपेक्षा न रखते हुये कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं वे साक्षात् स्वयं श्रेयः करते हैं । शंका होती है कि व्रजललनाओं और पुलिन्दिनियों का साधन तो एक ही भगवत्स्वरूप था तो फल भी दोनों के लिये एक होना चाहिये फिर पुलिन्दिनियों से व्रजाङ्गनाओं में फल का उत्कर्ष कैसे हुआ ? इस का उत्तर देते हैं कि इस में अधिकार भेद ही कारण है । इस फलभेद को और आधिक्य को अनुभजनः तथा अविदुष इन दो विशेषणों से बताया है । व्रजललनाओं को भगवान् ने 'स्वागतं वो महाभागाः' इत्यादि कह कर उन्हें लौट जाने के लिये कहा परन्तु पुष्टिमार्ग में तो भगवान् का भजन करना स्वाभाविक है इसलिये गोपीजन अपने स्वभाव की दृढता के कारण भगवान् के कहने पर भी वहां से लौटी नहीं,वहीं खड़ी रहीं । उन्होंने भजन करने वाले का अनुभजन नहीं किया किन्तु भगवान् ने ही उन व्रजाङ्गनाओं के मान आदि को दूर करने के लिये उन गोपियों का अनुभजन किया । इन पुलिन्दिनीयों में ऐसा नहीं हैं । पुलिन्दिनियों ने तो 'दयितास्तनमण्डितेन कुङ्कुमेंजानन कुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधि जहुः' 'ये वृन्दावन की पुलिन्दिनियां जब भगवान् को देखती हैं तब इनके हृदय में भी प्रेम की व्याधि लग जाती है उस समय ये भगवान् की प्रियतमाओं के वक्षःस्थल पर लगी हुई केसर जो भगवान् के चरणों में लग जाती है गोचारण के लिये जब भगवान् वृन्दावन में पधारते हैं तो वही केसर घास पर लगजाती है उस पुलिन्दिनियां अपने मुख पर तथा स्तनों पर लगाती हैं और अपने हृदय की पीड़ा को शान्त करती हैं । इस में दयिता पद से व्रजदेवियों को कहा है उनके सम्बन्ध वाली केसर से पुलिन्दिनियों को भी भगवान् के सम्बन्ध का अधिकार प्राप्त हो गया । अतः 'अनुभजनः' यह पद पुलिन्दिनियों के लिये ही है । 'अविदुषः' यहा पद भी पुलिन्दिनीयों के हो लिये है । 'रसो वै सः' इस श्रुति से भगवान् को रसात्मक बताया है । उस रसात्मक स्वरूप का ज्ञान पुलिन्दिनियों को नहीं है । इसका ज्ञान तो उन व्रजाङ्गनाओं को ही है । जैसा कि उन्होंने 'वीक्ष्यालका वृतमुखम्' से वर्णन किया है । यदि विदुषः' ऐसा पदच्छेद है तो ज्ञानी, माहात्म्य ज्ञानवाला होता है माहात्म्य ज्ञानवाले में गोपियों जैसा भाव नहीं होता । अधिकार के अनुसार ज्ञान होता है और ज्ञान के अनुसार फल होता है जैसा कि 'मल्लानामशनिः' यहां पर प्रतिपादित किया है । पुलिन्दिनियां तो बहुत थीं तो 'विदुषः' यहां एक वचन जाति के अभिप्राय से दिया गया है जितनी भी पुलिन्दिनियां थीं वे सब समान थीं उस बात को सूचित करने के लिये एकवचन का प्रयोग है । 'विदुषः' इस प्रकार पुल्लिङ्ग का निर्देश पुलिन्दिनी के शरीर को अभोग्य बताने के लिये है भगवान् ईश्वर हैं वे अनधिकारी का भी श्रेय करते हैं तो उन पुलिन्दिनियों का श्रेय करें इस में क्या आश्चर्य है । यह 'विदुषोऽपि' में आए हुए अपि शब्द से द्योतित होता है, इस में 'अगदराज इवोपयुक्त' यह दृष्टान्त है । अमृत ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे से सम्बन्ध करने वाला अधिकारी हैं अथवा नहीं । इसी तरह यहां भगवान् अधिकार अथवा अनधिकार का विचार नहीं करते । 'अगदराजः' इसमें अमृत, पियूष आदि अमृत के वाचक शब्द हैं उनका प्रयोग न करके 'अगद' शब्द का ही प्रयोग किया है उस का आशय यह है कि पुलिन्दिनियों का भगवान् का सम्बन्ध कामरोग की शान्ति के लिये ही है । क्योंकि उन पुलिन्दिनियों का मनोरथ भी यही था कि हमारा कामरोग शान्त हो यह 'जहुस्तदाधिम्'

से बताया है। व्रजकी रत्नरूपा उन गोपाङ्गनाओं में विरह दशा में उत्पन्न होनेवाले कामरोग के नष्ट हो जाने पर भी, उसके आगे उन्होंने अनेक प्रकार की रतिक्रीड़ाओं से अखिल रसमयप्रियतम के स्वरूपामृत का आस्वादन किया यही उनका मुख्य फल था । इसलिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त गोपियों के लिये नहीं है पुलिन्दिनियों के ही लिये है। वास्तव में तो उन व्रजपति की प्रेमिकाओं में तो विप्रयोग काल जो पीड़ारूप है उस में भी उनका मन भगवन्मय, प्राण भी भगवन्मय थे यह स्वयं भगवान् ने 'तो मन्मस्का' से बताया है। अर्थात् भगवान् आनन्द मय हैं तो विप्रयोग दशा में भी गोपियों के मन, प्राण सब आनन्दमय थे। आनन्द का रोग बताना तो अनुचित है। इसलिये पुलिन्दिनियों के ही लिये 'अगदराज' यह दृष्टान्त है । 'उपयुक्तः' पद में जो उप शब्द है उसका अर्थ समीप है तो समीप में तो भगवान् पुलिन्दिनियों के स्थित थे, व्रजाङ्गनाओं के साथ तो भगवान् का साक्षात् अङ्गसङ्ग हुआ था । इसलिये इस महान् अन्तर को देखने से यही सूचित होता हैं कि केमाः स्त्रियः' यह सारा वर्णन व्रज ललनाओं का न हो कर पुलिन्दिनियों का है। यद्यपि 'दृष्ट्-वैमादिगोपीनाम्' यहां पर और 'ता नमस्यन्निदं जगौ' इस कथन से यहां का सारा प्रसङ्ग गोपियों का ही होना चाहिये तथापि उद्धवजी ने कालान्तर में पुलिन्दिनियों में भी भगवद्भाव देखा था ऐसा लक्षित होता है। उद्धवजी आये तो उन्होंने नदी, वन, गिरि, द्रोणियां तथा पुष्पित वृक्षों को देखा 'सद्विनगिरि द्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान् इससे पर्वतों पर रहने वाली पुलिन्दिनियों को भी देखा यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है। उद्धवजी ने पहले तो 'एतापरं तनुभृतः' से व्रजाङ्गनाओं की स्तुति की उन में आश्चर्ययुक्त होकर पुनः पुलिन्दिनियों को याद कर के जहां पुलिन्दिनियों में भी ऐसा भाव है तो भगवान् की प्रिय गोपियों में ऐसा भाव हो इसमें क्या कहना ? ऐसा जाना जाता है। इसलिये 'केमाः' इस से पुलिन्दिनियों की ही स्तुति है इस में किसी प्रकार का सदेह नहीं हैं। एक बात यह भी है कि इदम् शब्द का प्रयोग किसी को सामने दिखाने के लिये किया जाता है तो क्या उद्धवजी भगवान् की प्रियतमा गोपियों के लिये 'इमाः' कह सकते है ? उसमें भी फिर 'क्व' अर्थात् ऐसा भाव भगवान् में असंभव है ऐसा कह सकते हैं ? उन व्रज ललनाओं के लिये जिनमें की स्वाभाविक प्रेम है उनको स्त्रियां कहें यह भी असगत है। स्त्रियों का भाव तो पुरुषों में काम वासना से ही हुआ करता है। गोपाङ्गनाओं का भाव तो कामवासना था ही नहीं यह पहले ही कहा जा चुका है इस लिये 'स्त्रियः' यह पद उद्धवजी गोपियों के लिये नहीं कह सकते। भगवान् का अङ्गसङ्ग करने वाली गोपीजनों के लिये उद्धवजी 'वनचरी' पद का प्रयोग कभी नहीं कर सकते और व्यभिचार दुष्टाः'ऐसा विशेषण क्या कभी परमभगवद्भक्त उद्धवजी गोपीजनों के लिए मुख से निकाल सकते हैं उद्धवजी को 'कृष्णस्य दयितः सखा' कृष्ण को प्यारा मित्र बताया है। भगवान् भी उद्धवजी को अपना अत्यन्त अनन्य प्रेमी भक्त मानते थे 'तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्त मेकान्तिनं काचित्'। उद्धवजी सर्वदा भगवान् के सेवक थे तं वीक्ष्य कृष्णानुचरम्' इत्यादि वाक्यों से उद्धवजी को भगवान् का अनन्य भक्त बताया है और जिन उद्धवजी ने व्रजाङ्गनाओं के चरण की धूलि को शिरोधार्य करने वाले गुल्म लता ओषधियों में जन्म लेने की अभिलाषा प्रकट की वह सब यदि 'क्वेमा स्त्रियः' इस श्लोक में व्रजांगनाओं का वर्णन माना जायगा तो विरुद्ध हो जायगा। इसलिये 'क्वेमाः' इस श्लोक में 'पूर्णाः पुलिन्द्य-' यहां पर उन पुलिन्दिनियों का जिनका कि भगवत्सम्बन्ध हुआ है उसी को कहा है यह ऊपर बताई गई युक्तियों से सिद्ध हो जाता है।

प्रभुचरणों को 'क्वेमाः स्त्रियः' इस श्लोक की अनेक व्याख्याओं में यही व्याख्या अत्यन्त प्रिय है इस बात को आपने 'सर्वमनवद्यम्' से स्पष्ट बताया है।

आभास—नन्वेतदन्योन्याश्रितम्, एवं भावो भगवति उत्तमकारणाभावे कथं भवतीत्याशङ्क्य ईश्वरस्तथा कृतवानित्युक्तम् । ईश्वरः कथं करोतीत्याशङ्कायां तदिच्छानुसारेण भजनादित्यनुभजनेन निरूपितम् । इच्छानुसारि भजनमकारणकमिति पुनः सदोषस्तदवस्थः । अत एकं निश्चित्य साधनं वक्तव्यं, भगवदिच्छा कारणान्तरं वेति । आद्ये । तासां न कापि स्तुतिः, कारणान्तरे तु किं ब्रह्मजन्मभिरिति विरुद्ध्य इत्याशङ्क्याह **नायं श्रियोङ्ग** इति ।

आभासार्थ—आपके कहने में अन्योन्याश्रयदोष आता है, जिससे एक का भी निश्चय नहीं हो सकता है । फिर भगवान् में इस प्रकार का भाव ब्रह्म जन्म के अभाव में कैसे हुआ होगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर ने वैसे किया, इसलिए मैंने कहा, ईश्वर ने ऐसा कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् की इच्छानुसार उन्होंने भजन किया, जिससे ईश्वर ने किया । कारण कि ईश्वर की इच्छा बिना भजन कराने की कैसे हुई? जिससे दोष तो फिर वैसा ही रहा,अतः एक साधन का निश्चय कर बताईए, भगवदिच्छा साधन है वा कोई दूसरा साधन है ? यदि भगवान् की इच्छा साधन थी तो गोपियों की स्तुति क्यों ? यदि दूसरा कारण ब्रह्म जन्म आदि है तो 'किं ब्रह्मजन्मभिः' इस कहने का विरोध आता है, इस प्रकार शङ्काएँ कर उनको 'नायं श्रियोङ्ग' श्लोक से मिटाते हैं ।

श्लोक—नायं श्रियोङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोन्याः ।
रासोत्सवेस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषो उदगाद्व्रजबल्लवी ॥६१॥

श्लोकार्थ—रासोत्सव में अपना भुजदण्ड गले में डाल कर व्रज-गोपियों पर जो भगवान् ने जैसी कृपा की, वैसी कृपा एकान्त रतिवाली लक्ष्मीजी पर तथा कमल जैसी सुगन्धवाली एवं कान्ति युक्त अप्सराओं पर भी न हुई तो अन्यों पर कैसे होगी ?॥६१॥

सुबोधिनी—वस्तुतो भगवदिच्छैव नियामिका । परमियमेतावता कालेन न क्वापि जातेति तासां स्तुतिरुच्यते । अन्यथा यादृशस्तासु प्रसादस्तादृशोन्यत्रापि भवेत् । तत्र संभावितस्थानान्यनूद्य परिहरति । एकान्ततो रतिर्यस्यां तादृशी लक्ष्मीः, तस्यामपि निरन्तरं रतिं प्रयच्छन्नपि न प्रसादं दत्तवान् । स्वर्योषितामपीन्द्रोपेन्द्रादिभावापन्नोपि बहुभिः सह रममाणोपि न दत्तवान् । नलिनवद्गन्धो रुक् कान्तिश्च यासाम् । तेन कमलभ्रमोपि तासु संभवति; कमलप्रियश्च भगवानिति कमलखण्डे पूजित इव कदाचित्तासु तिष्ठेत्, तस्या अपि निषेधः, अन्याः पुनः तत्तदवतारेषु संबद्धा अपि कुतस्तत्प्रसादं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । स कः प्रसाद इत्याकाङ्क्षायामाह **रासोत्सव** इति ।

अस्य भुजदण्डैर्गृहीतकण्ठैलब्धा आशिषो याभिः। न हि कदाचिदप्यनेकरूपाणि कृत्वा रमणार्थमेवं रसाभिनिविष्टो भवति, तत्रापि **व्रजबल्लवीभिः** सह, तास्त्वसंवृताः दध्यादिविक्रये सर्वत्र पर्यटन्-पराः, महतामपि प्रार्थनया कदाचिद्भगवानेकं रूपं गृह्णाति महति कार्ये, आनन्दश्च तासां सर्वोत्तमः, संपादितः अनेकधा रसमुत्पाद्य, अतो ज्ञायते नैतादृश्यः काश्चन। नाप्येतादृशः क्वापि भगवत्प्रसाद इति अतो ज्ञायतेवस्थापि तासामेतादृशी प्रमाणेष्वस्तुतापि सर्वोत्तमैवेपि ॥६१॥

व्याख्यार्थ—वास्तव में भगवदिच्छानुसार भजन करने में भगवान् की इच्छा ही नियामक है, किन्तु ऐसी इच्छा अब तक किसी पर भी नहीं हुई है, इसलिए इनकी स्तुति हुई है नहीं तो जैसी कृपा इन पर हुई, वैसी अन्यों पर हो होती। जिन पर कृपा होनी चाहिए ऐसे संभावित स्थानों को बताकर कहते हैं कि वहां भी ऐसी कृपा नहीं हुई है। विशेष प्रीति पात्र लक्ष्मीजी जिसको निरन्तर प्रेम का दान देते हैं, उस पर भी यह कृपा नहीं की है। स्वर्ग की स्त्रियां अप्सराएँ जिनके साथ इन्द्र उपेन्द्र भाव को धारण कर रमण करते हुए भी यह प्रसाद उनको भी नहीं दिया है। विशेष में वे अप्सराएँ कमल समान गन्धवाली तथा वैसी ही कान्तिवाली हैं और उनमें कमल जैसा भ्रम भी होता है। भगवान् को कमल प्यारे हैं, इस कारण से कमल खण्ड में पूजित के समान उनमें कदाचित् स्थित हो जावे, उसका भी निषेध करते हैं। जब यों है तो अन्य, जो उन उन अवतारों से संबद्ध हैं वे कैसे प्रसाद को प्राप्त करेंगी? वह कौन सा प्रसाद है जिसको गोपियों के सिवाय अन्य नहीं प्राप्त कर सकी हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रासोत्सव' के समय भगवान् ने जो अपना भुजदण्ड कण्ठ में डाल उससे रमण करते समय जो आनन्द गोपियों को प्राप्त हुआ वही प्रसाद है। भगवान् रमण के लिये अनेक रूप धारण कर इस प्रकार कभी भी रस से आप्लुत नहीं होते हैं। उसमें भी व्रज स्त्रियों के साथ, वे तो मिलकर एकत्र नहीं रहती है सदैव दधि आदि के बेचने के लिए सर्वत्र घूमती फिरती रहती हैं; बड़े कार्य के लिए जब महान् ब्रह्मादि प्रार्थना करते हैं तब भी भगवान् एक ही स्वरूप से प्रकट होते हैं, यहां तो अनेक रूप धारण कर प्रत्येक गोपी को सब से उत्तम आनन्द प्रदान करने के लिए उनसे रमण करते हुए अनेक प्रकार के रसों को प्रकट कर आनन्द में प्लावित किया है। अतः जाना जाता है, कि वैसी भाग्य वाली दूसरी नहीं हुई हैं और वैसा भगवत्प्रसाद कहीं भी प्राप्त न हुआ है, जिससे समझ में आता है कि उनकी वैसी अवस्था प्रमाण में स्तुति न होते हुए भी सब से उत्तम ही है। ६१॥

आभास—नन्वीर्ष्यया तासामवस्थां स्तुत्वा किमीश्वर एतदर्थं प्रार्थ्यते, तथासति स्वाभिलषितत्वात् न वस्तुनिरूपणे तात्पर्यमिति नोत्वर्षः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह **आसामहो** इति।

आभासार्थ—उद्धवजी ने गोपियों की इस अवस्था की स्तुति ईर्ष्या[1] से की है, क्या इस अवस्था के लिए ईश्वर को प्रार्थना की जाती है? यदि यों है तो ये अपने मन की इच्छा के अनुकूल स्तुति की

१-उद्धवजी को यह ईर्ष्या हुई कि मैं भी भक्त हूँ मेरी गोपियों के समान दशा नहीं की है।

गई है जिससे समझा जाता है कि इस स्तुति का वस्तु के निरूपण में अर्थात् गोपिकाओं के स्तुति के निरूपण में कोई तात्पर्य नहीं है, इससे उत्कर्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए 'आसामहो' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६२॥

श्लोकार्थ—आश्चर्य है कि वृन्दावन के गुच्छक, लता और औषधियाँ भी इनके चरण रज सेवन कर रही हैं, अतः इनके चरण रज की प्राप्ति की इच्छा से मैं भी चाहता हूँ कि इन गुच्छक, लता और औषधियों में से एक कुछ भी होकर यहाँ उत्पन्न हो जाऊँ; क्योंकि इन्होंने जो आर्य पथ छोड़ना कठिन है; उसको त्याग कर अर्थात् पति आदि का त्याग कर, जिसकी खोज श्रुतियाँ भी अब तक कर रही हैं, उस मुकुन्द की पदवी को प्राप्त कर लिया है ॥६२॥

सुबोधिनी—अहमासां दासानुदासत्वेपि, न योग्यः कथमेतद्भावयिष्यामि, 'अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव संशय' इति। अत **आसां चरणरेणुजुषां गुल्मलतौषधीनां** मध्ये **किमप्यहं स्याम्**। आदौ जङ्गमत्वाधिकारो नास्ति। तथा सति क्रियया ततोपगमनं स्यात्। व्यवहारयोग्ये तु समतया भावः स्यात्तदप्ययोग्यम्। स्थावरत्वे वृक्षादिभावे चिरकालावस्थितौ न शीघ्रं भगवत्प्राप्तिः स्यात्। अतो यो यस्य चरणरजो वाञ्छति स तद्भवति तदीयो वा भवतीति वा, अल्पायुश्चरणरजःप्राप्तियोग्यं जन्माभिलषितम्। अतो **गुल्मलतौषधीनां** तामसराजससात्त्विकानाम्, तत्रापि रजःसंबन्धयोग्यानाम्, न तु तुलसीकुन्दजातीव्रीह्यादिषु। तेषु हस्तसंबन्धः तदीयानां भगवत्संबन्धः शिरःसंबन्धश्च भवेदिति व्याजेनोत्कर्षप्रार्थनं भवेत्। **वृन्दावनं** हि परमोत्कर्षापादकं भक्तिजनकं **च**। **अहो** इत्याश्चर्ये। नह्येतदपि भविष्यतीति, साधनप्रकारेणैव जात उत्कर्षः फलपर्यवसायी भवति नान्यथा। **किमपीत्यनादरे**। नात्र सत्त्वाद्युत्कर्षोभिप्रेतः रजःसंबन्ध एवोत्कर्षजनक इति तस्य तुल्यत्वात्। **नन्वेतासां** रजसा क्रमेणैतद्भाव एव भवेत्। न तु भगवद्भावः। ततः किमित्येवं प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह **या दुस्त्यजमिति**। **भगवद्भावः** आसां सुलभः नत्वन्यत्र, तथैवोपपादितत्वात्। दुष्टत्वाच्च तदसंभावितमिति मत्वा पुनस्तासां धर्मानितिवदति। **दुस्त्यजाः स्वजनाः** पुत्रादयः, तत्रापि दुस्त्यजः **आर्यमार्गः** 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इति। अयमार्यमार्गो लौकिकः, यादृशास्ते स्वजनाः पुत्रादयः। वस्तुतस्तु। भगवानेव स्वजनः योऽआर्यमार्गश्च। अन्यथा फले व्यभिचारश्च। एवं त्यक्त्वा चकारात् भगवदुपदेशं च। अन्यथा बहिःसंवेदने स्वास्थ्यं भवेत्, पश्चान्मोक्षदातुः **पदवीं भेजुः**। यो हि यन्मार्गं गच्छति स तावति धर्मे तत्तुल्यो भवति, तत एता अपि मोक्षदात्र्यो जाताः, तथा वयमपि भविष्याम इति भगवद्भजनापेक्षयाप्येतदुत्तममिति भावः। नन्वेवं सति ब्रह्मभाववदयमपि कथं वेदे नोक्तस्तत्राह **श्रुतिभिर्विमृग्यामिति**।

श्रुतयोपि वक्तुं विचारयन्ति परमिदमित्थतया वक्तुं न जानन्ति। दृष्टान्तापरिज्ञानात्। इदानीमेव हि गोपिका भगवता दृष्टान्तीकृताः, भगवदभिप्रायः श्रुतीनामपि ज्ञातुमशक्य इति न सर्वज्ञत्वादिनापि दूषणम्। तदुपपादितं 'व्यसाद्यैरीश्वरेहाज्ञै'रिति। इममेवार्थमुररीकृत्य 'यस्यामतं तस्य मत'मित्यादिश्रुतयोऽज्ञानमेव तुष्टुवुः। तथापि स्वार्थमज्ञाने विशेषजिज्ञासाया अवश्यंभावात्स्वस्य सामर्थ्यमवश्य मन्यमानाः मृगयन्त्येव। तत्रापि सर्वोत्कृष्टत्वाद्विशेषेण मृग्यम् ॥६२॥

व्याख्यार्थ – मैं इनके दासों का दास भी बनने के योग्य नहीं हूं, तो इनकी भावना सम भाव मैं कैसे कर सकूंगा? यदि कोई पुरुष अपनी योग्यता से विशेष कोई कार्य करता है तो वह निश्चय गिरता ही है, अतः मैं तो इनकी चरण रज के पाने की इच्छा करता हूं, जिससे चाहता हूँ कि वृन्दावन में ही गुच्छक, लता और औषधियों में से कुछ भी हो जाऊं, पहले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गम में जन्म लेने की इच्छा क्यों नहीं की? जिसके उत्तर में कहा कि वैसा मेरा अधिकार नहीं, यदि अधिकार होता तो क्रिया द्वारा इनसे निकलना हो जाता, जिसके साथ समानता होती है वहां ही व्यवहार योग्यता होती है, उसके[1] न होने से भी अयोग्य हूँ, फिर भी वैसा व्यवहार करूं तो पतन हो, वह मूर्खता ही है। यदि कहो कि वृक्षादि में जन्म लेने से उसमें विशेष स्थिति करनी पड़ती है, जिससे भगवन्प्राप्ति में विलम्ब होता है, यह ठीक है, तो भी जो जिसकी चरण रज चाहता है, वह उसका रूप हो जाता है अथवा उसका हो जाता है, इसलिए चरण रज की प्राप्ति जिस जन्म में मिले उस अल्प आयु वाले जन्म की ही मैंने अभिलाषा की है। अतः मैंने तामस गुच्छक, राजस लता और सात्विक औषधियों में जन्म की प्रार्थना की है, क्योंकि इन पर उनके चरणों की रज सदव पड़ती ही रहती है। तुलसी, कुन्द जाति और व्रीहियों में जन्म लेने की प्रार्थना नहीं की है। उनमें तो हस्त का सम्बन्ध होता है और उनके फूलों का भगवान् से और शिर से सम्बन्ध होता है। यदि उनके वह मिष से उत्कर्ष की प्रार्थना मानो जाएगी, और वृन्दावन परम उत्कर्ष उत्पन्न करने वाला तथा भक्ति दाता है, 'अहो' यह आश्चर्य अर्थ में दिया है। क्या मैं जो इतना स्वल्प मांगने की प्रार्थना कर रहा हूँ वह भी सिद्ध न होगी? साधन प्रकार से ही अर्थात् इन प्रसाद प्राप्त गोपियों के चरण रज प्राप्ति की प्रार्थना रूप साधन के प्रकार से ही जो उत्कर्ष होता है, वह ही फल देता है। अन्य प्रकार से फल की प्राप्ति नहीं होती है। 'किमपि' यह शब्द अनादर मे कहा है, यहां सत्त्व आदि गुणों का उत्कर्ष नहीं है किन्तु रज का सम्बन्ध ही उत्कर्ष करने वाला है। चरणों की रज से जो उद्धार होता है, वह सतोगुण से हुए उद्धार के समान ही है। इनके चरण रज द्वारा तो तो क्रम से गोपियों जैसा भाव उत्पन्न होगा? अर्थात् पहले गुल्म आदिकों में जन्म, पश्चात् गोपियों में जन्म अनन्तर भगवान् में भाव का आविर्भाव होगा? रज से सीधे भगवद्भाव की प्राप्ति इस जन्म में नहीं होगी, तो किस लिए इस प्रकार की प्रार्थना करते हो? इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि या दुस्त्यज' जो गोपियां जिसको कोई छोड़ नहीं सकता है वैसे आर्य पथ को छोड़ कर भगवान् की शरण गई हैं। अत. भगवद्भाव इनको ही सुलभ है अन्य किसी को नहीं। कारण कि 'का स्त्रियः' इस श्लोक में यह सिद्ध कर बताया है कि ये गोपियां समस्त स्त्रियों से तथा सकल

१– समानता के

पुरुषों से उत्तम हैं, उद्धवजी कहते है कि मैं दोष युक्त होने से दुष्ट हूँ, अतः वह भाव मुझे प्राप्त होना असंभव है। यो कहकर फिर गोपियों के धर्मो को कहते हैं। अपने पुत्र आदि सम्बन्धियों का त्याग बहुत कठिन है। उसमें भी आर्य मार्ग को छोड़ना अधिक कठिन है। उसके त्याग से अपकीर्ति होती है। जिसके लिए शास्त्र कहता है कि 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यत। मान वाले को अपकीर्ति मरने से विशेष दुःखदायी होती है। यह आर्य मार्ग लौकिक है, जिसमें लौकिक पुत्र आदि स्वजन समझे जाते है। अलौकिक आर्य मार्ग में तो अलौकिक भगवान् ही स्वजन हैं। यदि लौकिक आर्य मार्ग तथा अलौकिक समान माना जावेगा तो फल में व्यभिचार होगा अर्थात् लौकिक आर्य मार्ग का फल भी भगवान् होना चाहिए जो होता नहीं। इस प्रकार पुत्रादि का एवं भगवान् के उपदेश का त्याग किया। यदि यो त्याग न करे तो चित्त में बाहर के ज्ञान से स्वास्थ्य हो जावे, अनन्तर मोक्षदाता भगवान् के मार्ग का आश्रय करने लगी, अर्थात् भगवान् को स्वजन समझ उनका भाव से भजन करने लगी। जो जिस धर्म मार्ग पर चलता है, वह उस धर्म से उसके समान हो जाता है, इससे ये भी मोक्ष देने वाली हो गई। हम भी वैसे हो जावेंगे, जिससे भगवद्भजन से भी वृन्दावन में गुल्मलतादि में जन्म लेना उत्तम है, यह उद्धवजी के कहने का भाव है। जैसे वेद में ब्रह्म भाव का वर्णन है वैसे इस भाव का वर्णन क्यों नहीं है? जिसके उत्तर में 'श्रुतिभिर्विमृग्यां' कहा है अर्थात् श्रुतियां भी अब तक इस भाव को ढूंढ रही हैं, विचार करती रहती हैं, किन्तु कह नहीं सकती हैं कि यह इस प्रकार है, कारण कि, इस प्रकार के भाव वालों का कोई दृष्टान्त ही श्रुतियों को नहीं मिला। भगवान् ने इस भाव को अब गोपियों में प्रकट कर गोपियों को ही दृष्टान्त रूप बताया है। यद्यपि श्रुतियों को सर्वज्ञ कहा जाता है, किन्तु वह सर्वज्ञता भगवान् के अभिप्राय जानने में समर्थ नहीं है, इससे श्रुतियों की सर्वज्ञता में किसी प्रकार दूषण नहीं आता है। जिसको प्रथम स्कन्ध में 'व्यासाद्यैरीश्वरे हा ज्ञै' इस श्लोक में सिद्ध किया है इस सिद्धान्त को लेकर ही श्रुतियां कहती हैं 'यस्यामतं तस्य मत' कि जो कहता है, मैंने नहीं समझा, उसने ही समझा है। यों कह कर इस प्रकार के अज्ञान की प्रशंसा की है। जिसका आशय यह है कि जो अपने को ज्ञानी समझेगा वह आगे विशेष जानने की जिज्ञासा नहीं करेगा और जो कहेगा मैं नहीं जानता हूँ, वह अधिक जानने के लिए प्रयत्न करेगा। जिससे सर्वोत्कृष्ट तत्त्व को जान कर उत्कृष्ट फल लाभ कर सकेगा ॥६२॥

आभास—किञ्च। यत्सर्वेषां पूज्यमाराध्यं तत्तासां तापहारकत्वेन नियुक्तम। तापे हि पूज्यस्पर्शोपि निषिद्धः पूजार्थमपि। तत्राप्यङ्गभावं प्राप्त इति विशेषत उत्कर्षमाह **या वै श्रियार्चितमिति।**

आभासार्थ—सर्व जिनकी पूजा तथा आराधना करते हैं, वे इनके ताप हरण में लगे हुए हैं। ताप के समय पूजा के लिए भी पूज्य के स्पर्श का निषेध है। उसमें भी ये अङ्ग भाव को प्राप्त है इसलिए इनका अधिक उत्कर्ष या वै श्रियार्चित श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-**
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।

कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् के जिस चरणारविन्द को लक्ष्मीजी तथा (आप्तकाम) सनकादिक एवं ब्रह्मादि देवों ने पूजा हैं और योगेश्वरों ने जिसका चिन्तन अपनी आत्मा में किया है, वह चरणारविन्द भगवान् ने रमण करते हुए जिनके स्तनों पर धरा है और उनका आलिङ्गन कर ये गोपियाँ ताप से मुक्त हो गईं ॥६३॥

सुबोधिनी—सर्वत्र फलरूपा लक्ष्मी, तयापीष्टसिद्धयर्थमचितं न तु यथेष्टं विनियोक्तुं शक्यम्। **किञ्च। अजादयो** ब्रह्मादयः सनकादयश्चाप्तकामाः **योगेश्वराः** सिद्धाश्रयः ये सर्वं कर्तुं समर्थाः सर्वोपि पुरुषार्थः प्राप्तः वशीकृतसर्वसाधनाश्च, तेऽपि ततोप्युत्तमफलसिद्धयर्थं तच्चरणमानर्चुः। बहिरवस्थायामर्चनं भविष्यतीत्याशङ्क्य विशेषमाह **यदात्मनीति। यदात्मन्यर्पितं** ध्यानं कृत्वापि कृत्वापि पूजितमित्यर्थः। तादृशमपि **कृष्णस्य** सदानन्दस्य फलरूपस्य तत्रापि **तत्प्रसिद्धं** स्वतन्त्रफलदातृ स्वतः भक्तिमार्गप्रवर्तकं, **भगवतः** सर्वसमर्थस्य, एवं स्वतः संबन्धतोप्युत्कृष्टं **रासगोष्ठ्यां** कौतुकक्रीडायां स्वयं स्वेच्छया नर्तनं कृत्वा श्रान्ताः सत्यः कमलादिकमिव व्यजनवायुमिव चन्दनमिव तन्मन्यमानाः **स्तनेषु** न्यस्य **तापं जहुः**। धार्ष्ट्यात् अयुक्तमेव तथा कृतवत्य इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं भगवतैव न्यस्तमित्युक्तम्। भगवानप्यत्यन्तं वशस्तासां शीघ्रं तापापनोदार्थं स्वयमपि शीघ्रं तत्स्तनेषु स्थापितवान्, अत आह **न्यस्तमिति**। ततस्तत्परिरभ्य स्वाधीनं कृत्वा तापं जहुरिति। प्रमाणतः प्रमेयतश्च ता उत्कृष्टा इत्यर्थः ॥६३॥

व्याख्यार्थ—जिस लक्ष्मी को सर्वत्र फल रूप समझा जाता है उसने भी अपनी कामना की सिद्धि के लिए चरणारविन्द की पूजा की है, किन्तु अपनी इच्छानुसार उस चरणारविन्द का उपयोग नहीं कर सकी है। ब्रह्मादि, सनकादि, जो पूर्ण काम हैं उन्होंने तथा सिद्ध योगेश्वर, जो सब कुछ करने में समर्थ है, सर्व पुरुषार्थ जिनको प्राप्त है और सर्व साधन जिन्होंने वश में कर लिए हैं, वे भी, उससे भी अधिक फल की प्राप्ति के लिए उनके चरणों को पूजते है। चरणों का पूजन तो बाहर की अवस्था में होता है, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यदात्मति' आत्मा में ध्यान कर भीतर पूजन किया है। फलरूप, सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के वैसे चरणारविन्द को, जिसमें भी वह प्रसिद्ध स्वतन्त्र फलदाता तथा स्वतः भक्ति मार्ग के प्रवर्त्तक हैं, सर्व समर्थ एवं अपने आप सम्बन्ध से भी अतिशय उत्तम चरणारविन्द को कौतुक[1] क्रीड़ा में स्वयं अपनी इच्छा से नृत्य करते हुए थक जाती तब आप उनके स्तनों पर धरते, उस समय वे गोपियां यों समझती थीं कि हमारे ताप की शान्ति के लिए हमारे हृदय पर कमल वा पंखा अथवा चन्दन पड़ा है, इस प्रकार करना अर्थात् स्तनों पर पैर धरना तो ढीठाई अथवा निर्लज्जता का काम है, इसलिए यह अयोग्य है। जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवता एव न्यस्तं' भगवान् ने ही धरा है, भगवान् ने यों क्यों किया ? जिसका उत्तर देते हैं कि

१— रास में।

भगवान् गोपियों के अतिशय वश हो गए हैं, अतः उनका ताप शीघ्र मिटाने के लिए यों किया है। अर्थात् स्वयं ने ही शीघ्र उनके स्तनों पर चरणारविन्द धरे हैं। इसलिए 'न्यस्तं' पद दिया है, जिसका अर्थ है 'धरा' इसके अनन्तर गोपियों ने आलिङ्गन कर अर्थात् अपने आधीन कर अपने ताप को विशेष प्रकार से मिटा दिया। इससे यह बताया कि गोपियां प्रमाण और प्रमेय दोनों से उत्कृष्ट हैं। प्रमाण से उत्कृष्टता यह है कि जो सबके पूज्य और आराध्य है, वे इनके ताप मिटाने का कार्य करते है और प्रमेय से उत्कृष्टता यह है कि भगवान् इनके अत्यन्त वश में हैं जिससे ताप मिटाने के लिए स्वयं ने स्तनों पर चरण धरे।।६।।

आभास—अन्यार्थमेवैषा प्रशंसेत्याशङ्क्य पूर्वमपि नमस्कारार्थमेतदारब्धमिति प्रतिज्ञातत्वात् ता नमस्यति **वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणामिति**।

आभासार्थ - उद्धवजी ने यह प्रशंसा अपने लिए नहीं की है, किन्तु अन्यों के हृदय पर इनका प्रभाव पड़े इसलिए की है। इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए कहते हैं कि पहले भी नमस्कार के लिए यह प्रारम्भ किया, यों प्रतिज्ञा होने से अब 'वन्दे नन्द' इस श्लोक में उनको नमन करते हैं; जिससे बताया है कि प्रशंसा का मेरे पर प्रभाव पड़ा है।

श्लोक—वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ।।६४।।

श्लोकार्थ— नन्दराय के व्रज की स्त्रियों की चरणारविन्द की रज को मैं बार-बार वन्दन करता हूँ। जिनका भगवत्सम्बंधी गान त्रिलोकी को पवित्र करता है ।।६४।।

सुबोधिनी– तासां नमस्कारेऽपि नास्माकमधिकारः, किन्तु नन्दव्रजस्य स्त्रीमात्रस्य **पादरेणुमेवैकमभीक्ष्णशो वन्दे**, अस्मदपेक्षया स रेणुः महानेवोत्कृष्टः फलरूपश्चेत्यादरेण वन्दे। ननु कथमेवमत्याश्चर्यमुच्यत इत्याशङ्क्य लोके तदुपपादयति **यासां हरिकथोद्गीतमिति**। हरिकथापेक्षयापि हरिकथया वा सह **ऊर्ध्वं गीतं** यासां संबन्धि गीतं **भुवनत्रयमेव** पुनाति। गानमात्रेणैव **पुनातीति** गङ्गातोऽप्युत्कर्षः। गुणानां साधकत्वं बाधकत्वं वा नास्तीति ज्ञापनाय त्रयमिति ।।६४।।

व्याख्यार्थ - उद्धवजी कहते हैं, कि जो गोपियां प्रमाण एवं प्रमेय से उत्कृष्ट हैं, उनको नमस्कार करने का मैं अधिकारी नहीं हूं। अतः नन्द के व्रज की स्त्रीमात्र की केवल चरण रज को ही बारबार नमस्कार करता हूं। मुझ से तो वह रज बहुत उत्तम है और फल रूप है, इसलिए आदर के साथ वन्दन करता हूं। उद्धवजी जैसे ज्ञानी एवं भक्त तथा कृष्ण के सखा यों कैसे करते हैं, यों करना तो बहुत आश्चर्य की बात है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए यों करने का जो कारण है उसको लोक में प्रकट करने के लिए प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'यासां हरिकथोद्गीतम्' केवल हरि कथा से भी उसका जोर से जो गान करती हैं, जिससे तीन लोक पवित्र हो जाते हैं। इससे यह प्रकट किया कि तीन लोक को पवित्र करने से यह गान गङ्गा से भी उत्तम है। गान तीन लोक का पवित्र करते हैं, इसलिए उनका कोई साधक बाधक नहीं है ।।६४।।

आभास—एवं भगवत्कृतं तासां निरोधं समर्थयित्वा तादृशमपि भगवान् करोतीत्यवगतभगवन्माहात्म्यः, भिन्नप्रक्रमेण भगवत्स्थाने समागत इत्याह **अथ गोपीरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के किए हुए निरोध का समर्थन कर इस प्रकार भी भगवान् करते हैं, जिससे भगवान् का माहात्म्य जान, दूसरे क्रम से भगवान् के स्थान पर आए जिसका वर्णन 'अथ गोपी' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।**
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥६५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि गोपी, नंद और यशोदाजी इनसे प्रार्थना पूर्वक आज्ञा लेकर और गोपों से भी जाने की राय लेकर उद्धवजी जाने के लिए रथ पर चढ़े ॥६५॥

सुबोधिनी—अनुज्ञां प्रार्थयित्वा तथा **यशोदां नन्दमेव च** । त्रय एवात्र प्रकरणे मुख्याः । ततो मित्रभूतान् **गोपानामन्त्र्य** गच्छामीत्युक्त्वा यतोयं **दाशार्हो** यादवश्रेष्ठो दाशार्हभेदः, वस्तुतो भक्तिप्रधानो भक्तहितकारी, ततो **यास्यन्नतु** विश्रामार्थं **रथमारुरुहे** ॥६५॥

व्याख्यार्थ—उद्धवजी गोपी, और यशोदाजी से जाने की प्रार्थना कर आज्ञा ली, इन तीनों से ही प्रार्थना इसलिए की है कि इस प्रकरण में ये तीन ही मुख्य हैं। पश्चात् मित्र बने हुए गोपों से सलाह की अर्थात् उनको जाने की सूचना दी, यों क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उद्धवजी यादवों में श्रेष्ठ हैं। वास्तव में उनकी श्रेष्ठता इसलिए है कि उनमें भक्ति प्रधान है और वह भक्त हित करने वाले भी हैं। रथ में विश्राम के लिए नहीं बैठे किन्तु पुरी जाने के लिए बैठे ॥६५॥

आभास—स पूर्वमप्येवं बहुधा चकार । ततो नोद्यमनमात्रेण गमनौपयिकं कोपि करोति । यदा पुनः स निर्गत एव तदा तदर्थं भगवदर्थं च उपायनान्यानोय प्रस्थापनार्थं समागता इत्याह **तं निर्गतमिति** ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने पहले भी कई बार जाने की तैयारी की थी, इसलिए किसी को विश्वास नहीं हुआ कि वे जाते हैं, किन्तु जब वे जाने के लिए निकलकर रथ में बैठे, तब व्रजवासी भी श्रीकृष्णचन्द्र तथा उद्धवजी के वास्ते भेटें लेकर उनको विदा करने के लिए आए. जिसका वर्णन 'तं निर्गतं' श्लोक में शुकदेवजी करते है।

श्लोक—**तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।**
नन्दादयोनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥६६॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी को रथ में चढ़ा देखकर सब ने समझा कि वे निश्चय से जा रहे हैं, अतः नंद आदि सब अनेक प्रकार की भेंटें लेकर आए। वे देते हुए प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहाते हुए कहने लगे ॥६६॥

सुबोधिनी—**समासाद्याग्रे** मिलित्वा,**नानोपा-** | **अश्रुलोचनाः** सन्तः **प्रावोचन्** ॥६६॥
यनानि पाणौ येषाम् । स्नेहेन **नन्दादयः** |

व्याख्यार्थ—वे नन्द आदि सब आकर मिले उनके हाथों में अनेक प्रकार की भेटें थी। वे उद्धवजी को दीं, स्नेह के कारण नन्द आदि जो आए थे उनके नेत्र आंसुओं से भरगए और वे यों कहने लगे ॥६६॥

आभास—तदुपदिष्टोर्थस्तेषां हृदये समागत इति ज्ञापनार्थं तत्फलसिद्धयर्थं गुरुं प्रार्थयन्ति **मनसो वृत्तय** इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने जो उपदेश दिया उसका भाव हमारे हृदय में जम गया है, यह जताने के लिए उसके फल की सिद्धि के लिए गुरु को निम्न दो श्लोकों में प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—**मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।**
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥६७॥

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥६८॥

श्लोकार्थ—हमारे मन की सब वृत्तियाँ श्रीकृष्ण के चरणों की आश्रित होकर रहे; वाणी, नाम का स्मरण करे; काया, नमस्कार, पूजा आदि साधनों में लगा रहे; ईश्वर इच्छा से कर्मों के कारण कहीं भी हम भ्रमण करें, वहाँ-वहाँ शुभ आचरण, दानादि से भी विशेष रति ईश्वर श्रीकृष्ण में बनी रहे ॥६७-६८॥

सुबोधिनी—अस्माकं कायवाङ्मनांसि कृष्णसबन्धिकार्यपराण्येव भवन्तु। अयमेवोत्कर्षः प्रार्थनीयः न तु लोके प्रसिद्धः अन्यः कोप्युत्कर्षः प्रार्थनीय इति ज्ञापयितुं **कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र** क्वचिद्योनौ सतां तदर्थं प्रार्थनायामुदासीनानां सर्वैरेव **मङ्गलाचरितैर्दानैश्च**, मङ्गलाचरितानि सर्वसाधारणानि, दानं विशेषधर्मः, वंश्येष्वेव देयानामुत्पत्तेः, **कृष्णे रतिरसाधारणा** इतोप्यु-

त्तमास्माकमस्तु । द्वयं प्रार्थितं सङ्घातस्य भगवति विनियोगः आत्मनश्च भगवति स्नेह इति । **मनसो** ह्येकादश**वृत्तयः** ताः सर्वाः **कृष्णपदाम्बुजमेवा**श्रित्य तिष्ठन्तु क्रियया ज्ञानेनाभिमत्या च । अम्बुजे हि रूपरसगन्धस्पर्शाः स्पष्टाः । शब्दोन्यत्रापि स्वतन्त्रतया विनियोक्ष्यत इति न न्यूनता कापि । **आश्रय**पदेन प्रसङ्गात्करणं निवारितम् । **वाचोपि नाम्नामेवाभिधायिन्यो,** नाम तु तत्रैव पर्यवसितसर्वशक्तियुक्तं भवति । नत्वेवंविधानि गुणकर्माणि, पदार्थान्तरवाचकत्वात्, छान्दसप्रयोगाल्लौकिकपरा वाचो मा भवन्त्विति ज्ञापितम् । **कायः** शरीरं च तस्य भगवतः **प्रह्वणादिनमस्कारादिपूजासाधनादिषु** भवतु । प्रकरणेन प्रार्थना ॥६७॥

कर्मभिरवश्यं भ्रमणम् ईश्वरस्यापि तथैवेच्छेति न कर्मस्वातन्त्र्यम्. अत एव स उत्कर्षोप्रयोजक इति **यत्र क्वापीत्युक्तम्** । ननु कायवाङ्मनसां भगवति विनियोगे मङ्गलाचरितानि कुत्रत्यानीति चेत् । सत्यम् । यावदेतद्भवति तावत्कर्माणि न त्यक्तव्यानीति तेषामन्यथाफलं मा भवत्विति तथा प्रार्थयन्ति । **किञ्च** । ईश्वरभाव एव **कृष्णे** सर्वदा भवत्वित्यपि प्रार्थनात्रयम् ।६८।

व्याख्यार्थ—हमारे काया वाणी और मन कृष्ण संबन्धी कार्यों में लगे रहें । जगत् में यही उत्कर्ष प्राप्त हो उसके लिए ही प्रार्थना करनी योग्य है । लोक में प्रसिद्ध, जो अन्य उत्कर्ष हैं, उनके मिलने के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए । यह जताने के लिए कहते हैं कि कर्मों के कारण जिस किसी योनि में हमारा जन्म हो तो वहां भी शुभ आचरण, जो सर्व के लिए करना साधारण धर्म है । दान जो विशेष धर्म है, जिसकी उत्पत्ति वैश्यों में ही होती है अर्थात् वैश्यों की दान करने में उत्कृष्टता है । इन धर्मों से जो उत्कृष्टता होती है, उससे अधिक उत्कृष्टता कृष्ण में असाधारण रति में है, अतः हमको सर्वत्र वह रति प्राप्त होए, यों प्रार्थना कर दो बातों की गुरु से याचना की है । एक हमारे सङ्घात[1] का भगवान् में विनियोग हो और दूसरा आत्मा का भगवान् में स्नेह हो । जिसको आचार्य श्री विशेष स्पष्ट करते हैं कि, मन की वृत्तियां एकादश हैं वे सर्व, श्रीकृष्ण के चरण कमल के आश्रय में, ज्ञान से, क्रिया से और अहंकार पूर्वक स्थित रहें । चरण कमल में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार तो स्पष्ट हैं, शेष अन्य वृत्तियां गुणगान से, भगवान् के साथ सलाप आदि से स्वतन्त्र रूप से प्रभु में आ जाएँगी, इस प्रकार होने से न्यूनता कुछ भी न रहेगी । आश्रय पद देकर यह बताया कि कभी, किसी तरह भी वृत्तियों को चरणाम्बुज आदि का आश्रय करना चाहिए । इसलिए प्रसङ्ग से करने का निषेध कर दिया, वाणी भी नाम ही बोलती रहे । नाम तो वहां[2] ही पहुँच कर सर्व शक्तियों से युक्त हो जाता है । गुण और कर्म अन्य पदार्थों को कहते हैं, किन्तु नाम की मुख्य शक्ति तो भगवान् में ही पहुँचती है । यहां श्लोक में 'अभिधायिनीः' यह छान्दस् प्रयोग दिया है, जिसके देने का आशय यह है कि वाणी लौकिक परायण न होवे, शरीर, उस भगवान् के नमस्कार, पूजा आदि साधनों में लगा रहे, इस प्रकार प्रकरण के अनुसार प्रार्थना की है ॥६७॥

कर्मों से भ्रमण तो होता है, किन्तु वह भ्रमण भी तब होता है जब ईश्वर की वैसी इच्छा होती है । अन्यथा जो केवल कर्म ही भ्रमण कराने वाले माने जाएँ तो वे कर्म स्वतन्त्र मानने पड़ेंगे ।

१— देह के अङ्गों, २— भगवान् में ।

वे स्वतत्त्र नहीं है, स्वतन्त्र तो एक ईश्वर ही है । इसलिए श्लोक में 'ईश्वरेच्छया' कहा है, अत: कर्म से जो उत्कर्ष है, वह अप्रयोजक है, इसलिए 'यत्र क्वापि' जहां भी हमारा जन्म हो, कहा है । शरीर, वाणी और मन भगवान् में विनियोग के पश्चात् मङ्गलाचरण क्यों जिसके उत्तर में कहते हैं कि जब तक वैसी अवस्था न हो तब तक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए । इनका विपरीत फल न होवे,इसलिए वैसी प्रार्थना करते हैं । कृष्ण में ईश्वर भाव ही सदा बना रहे, यों सबों ने मिलकर तीन प्रार्थनाएँ कीं ॥६८॥

आभास—तत: संतुष्टस्तथेति मनसैवाभ्यनुज्ञाय मथुरामागत इत्याह **एवं संप्रार्थित** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की प्रार्थना होने से उद्धवजी को संतोष हुआ, जिससे उद्धवजी ने म से ही उसको स्वीकार करते हुए कहा कि यों ही हो, अर्थात् आपके मन की वृत्तियां कृष्ण के चरण कमल की आश्रित हो । वाणी नाम रटती रहे काया से नमस्कार पूजा आदि करते रहो, अनन्तर आप मथुरा आकर पहुँचे, जिसका वर्णन 'एवं सम्प्रार्थितो श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**एवं सम्प्रार्थितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।**
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥६९॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! कृष्ण भक्तिपूर्वक गोपों से प्रार्थित उद्धवजी, कृष्ण से पालित मथुरा में वापिस आगए ॥६९॥

सुबोधिनी—तेषां प्रार्थनया स्वोत्कर्षो वा तेषामन्यभजनं वा ज्ञातमिति शङ्कां वारयितुं **कृष्णभक्त्येत्युक्तम्** । **नराधिपेति** संबोधनं सेवकानुवृत्तिः स्वाम्यर्थेति ज्ञापनार्था, तस्य प्रीतिरेव मुख्येति **परमप्रीत** इत्युक्तं; वचनं तु निर्बन्धादपि वदेदित्यप्रयोजकम्, **मथुरां पुनरागच्छत्**, भगवांस्तावत्पर्यन्तं मथुरायामेव स्थितः । **कृष्णपालितामिति** । विशेषतो भयशङ्कया स्वयमेव पालयतीति भगवदनागमने विशेषहेतुरुक्तः । अनेन तादृशं स्थानंपरित्यज्य किमित्युद्धवः समागत इति शङ्का निवर्तिता ॥६९॥

व्याख्यार्थ – श्लोक में 'कृष्ण भक्त्या' पद का आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि किसी को ऐसी शङ्का हो जावे कि उद्धवजी ने नन्द आदि के प्रार्थना से अपना उत्कर्ष समझा अथवा उनको अन्य भजन है, यों समझा, यों नहीं है किन्तु 'कृष्ण भक्त्या' तथा 'मतिर्तः कृष्ण ईश्वरे' इन पदों से उद्धवजी सन्तुष्ट हुए । जब नन्द आदि में भक्ति की पूर्णता है तो प्रार्थना क्यों की ? प्रार्थना करने का यह भाव है कि, जो पूर्ण भक्त होते है, उनका सहज स्वभाव होता है कि वे अपने उत्कर्ष को नहीं जानते हैं । जिससे वे सदैव दीनता से गुरु वा प्रभु को प्रार्थना ही करते रहते हैं । जब नन्द आदि वैसे पूर्ण हैं, तो उनसे सत्सङ्ग के लिए वहां कुछ और समय क्यों न ठहर गए ? जिसका उत्तर, नराधिप ! सम्बोधन से दिया है । सेवक का कर्त्तव्य स्वामिके इच्छानुकूल

ही होता है अर्थात् स्वामि की जैसी आज्ञा होती है तदनुसार ही उतना कार्य कर सकता है। विशेष अन्य करे, तो अपराधी होता है। आप राजा हैं,इसलिए आपको इस विषय का ज्ञान है ही। यदि कहो कि प्रार्थना के फल स्वरूप आशीर्वाद वा स्वीकृति प्रत्यक्ष क्यों नहीं दी ? आशीर्वाद से प्रीति(प्रसन्नता) ही मुख्य है, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी ने पहले ही 'परम प्रीतः' पद से कर दिया है। श्लोक में 'कृष्ण पालिताम्' कहा है, इस पर शङ्का होती है कि, उद्धवजी के सिवाय अन्य भी सेवक विद्यमान थे, तो स्वयं ने पालन का कार्य क्यों किया ? इसके उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि वह विशेष सङ्कट का समय था,जबकि जरासन्ध आदि के आक्रमण का भय था। अन्य अक्रूर आदि पर भगवान् का उद्धवजी के समान पूर्ण विश्वास नहीं था, इसलिए उद्धवजी को 'त्वं हि नः परमं चक्षुः' वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री' कहा है। इसी विशेष अवस्था के कारण आप व्रज में नहीं पधारे, अतः उद्धव भी व्रज में विशेष न ठहर कर मथुरा वापिस आ गए ॥६९॥

आभास—एतत्सर्वं दासभावेनैव कृतमिति ज्ञापयितुं निवेदनमाह कृष्णायेति ।

आभासार्थ–नन्द आदि को भगवदाज्ञानुसार सान्त्वना देना आदि कार्य उद्धवजी ने दास भाव से ही किया है, यह जताने के लिए 'कृष्णाय' श्लोक से निवेदन का वर्णन करते हैं।

श्लोक—कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥७०॥

श्लोकार्थ—कृष्ण को प्रमाण कर, व्रजवासियों में जो भक्ति की अधिकता देखी, उसका भगवान् के सामने वर्णन किया और प्राप्त को हुई भेंट भी दी। अन्य जो भेंटें मिलीं थीं, वे भी वसुदेव, राम और राजा को पृथक्-पृथक् दे दी ॥७०॥

सुबोधिनी—उपायनान्यदादिति सम्बन्धः। भगवन्तं प्रणिपत्य भक्त्युद्रेकमाह। एतावानर्थः पूर्वं भगवता नोक्त इति प्रायेण भगवान् न विचारितवान् इति। यादृशः प्रेमात्मको भक्तिपदार्थः शास्त्रे निरूपितस्तस्मादाधिक्यमेतद्भावस्योक्तवानिति वा। तेनानिर्वाच्यत्वमितोन्यत्रादृष्टत्वं च ज्ञापितं भवति। ततो वसुदेवायाप्युपायनान्यदान्मित्रसम्बन्धः तिष्ठतीति ज्ञापयितुम्। रामाय चाददात्पूर्वावस्था तथैव तिष्ठतीति। मर्यादामप्यङ्गीकुर्वन्तीति ज्ञापनार्थं राज्ञे, चकारादक्रूरादिभ्योपि दोषाभावज्ञापनार्थम् ॥७०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे चतुश्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—मिली हुई भेटें सब को दीं, यह सम्बन्ध है। भगवान् को नमस्कार कर व्रजवासियों के भक्ति का उद्रेक कहा। जैसा कि उद्धवजी ने आकर उनमें भक्ति का उद्रेक बताया, वैसा पहले भगवान् ने नहीं कहा था जिससे जाना जाता है कि बहुत करके आप इसको ध्यान में नहीं लाए हैं, अतः भगवान् ने 'ता' 'मन्मनस्काः' इतना ही कहा, क्योंकि इस प्रकार का उद्रेक आपने देखा नहीं

था। तो क्या भगवान् जानते नहीं थे क्या ? इसलिए आचार्य श्री ने 'प्रायेण' पद दिया है। विशेष में कहते हैं कि जैसा प्रेमात्मिका भक्ति का स्वरूप शास्त्रों में निरूपण किया है, जिससे भी व्रजवासियों में विशेष भाव का उद्धवजी ने वर्णन किया है,इससे यह भाव अनर्वचनीय है तथा दूसरे स्थान पर वा दूसरों में देखने में नहीं आया है। पश्चात् वसुदेवजी को भेटें दीं,कारण कि वसुदेवजी यों न समझें कि अक्रूर मेरे पुत्रोंको यहां ले आए,फिर उनको हमने मिलने के लिए भी वहां नहीं भेजे इस-लिए नन्दजी ने सम्बन्ध व प्रेम छोड़ दिया है। परंतु भेटें भेजकर बता दिया कि अपना मैत्री और भ्रातृत्व का सम्बन्ध स्थिर है। राम को भेटें दीं, जिससे यह बताया कि नन्दराय की आप में वही बाल भावना है। राजा को भेटें दी जिसका आशय है कि आपको भी हम राजा मानते हैं। अक्रूर आदि को भेटें दी जिससे बताया कि आप यहां से राम कृष्ण को ले गए, इस कारण से हमारे मन में किसी प्रकार का आपके प्रति विषम भाव उत्पन्न नहीं हुआ है ॥७०॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का पांचवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

* इस अध्याय में भगवल्लीला सम्बन्धी कुछ पद *

राग धनाश्री—

देखौ नन्द द्वार रथ ठाढ़ौ।
बहुरि सखी सुफलक सुत आयौ, परचौ संदेह जिह गाढ़ौ ॥
प्रान हमारे तबहिँ लै गयौ, अब किहि कारन आयौ।
मैं जानी यह बात सुनत प्रभु, कृपा करन उठि धायौ ॥
इतने अन्तर आइ उपँग सुत, तेहिँ छन दरसन दीन्हौ।
तब पहिचानि सखा हरिजू कौ, परम सुचित मन कीन्हौं ॥
तिहिँ परनाम कियौ अति रुचि सौं, अरु सबहिनि कर जोरे ॥
सुनियत हुते तैसेई देखे, परम सुहृद जिय भोरे ॥
तुम्हरौ दरसन पाइ आपनौ, जनम सु फल करि मान्यौ।
सूर सु ऊधौ मिलत भयौ सुख, ज्यौं भूख पायौ पान्यौ।

राग नट—

ऊधौ कहौ हरि कुसलात।
कह्यौ आवन, किधौं नाहीं, बोलिऐ मुख बात ॥
एकछिन जुग जात हमकौं, बिनु सुने हरि प्रीति।
आपु आए कृपा कीन्ही, अब कहौ कछु नीति ॥
तब उपँग सुत सबनि बोले, सुनौ श्री मुख जोग।
सूर सुनि सब दौरि आईं, हटकि दीन्हौ लोग ॥

राग सारंग—

गोपी सुनहु हरि कुसलात ।
कंस नृप कौ मारि छोरे आपने पितु मात ॥
बहुत विधि मनुहार करि,दियो उग्रसेन हिं राज ।
नगर लोग सुखी बसत हैं, भये सुरनि के काज ॥
मोहिं यह पाती दई लिखि, कह्यौ कछु संदेस ।
सूर निर्गुन ब्रह्म उर धरि, तजहु सकल अँदेस ॥

राग सारंग—

निरखति अंक श्याम सुन्दर के बार-बार लावति लै छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम, श्याम की पाती ॥
गोकुल बसत नंदनंदन के, कबहुँ बयारि न लागी ताती ।
अरु हम उती कहा कहैं ऊधौ, जब सुनि बेनु नाद सँग जाती ॥
उनकैं लाड बदति नहिं काहूं, निसि-दिन रसिक रास रस राती ।
प्राननाथ तुम कबहि मिलौगे, सूरदास प्रभु बाल सँघाती ॥

राग मल्हार—

कोउ ब्रज बाँचत नाहिंन पाती ।
कत लिखि लिखि पठवत नँद नंदन कठिन बिरह की काँती ॥
नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती ।
परसैं जरै, बिलोकैं भीजे, दुहूँ भाँति दुख छाती ।
को बाँचै ये अंक सूर प्रभु, कठिन मदन सर घाती ।
सब सुख लै गये श्याम मनोहर, हमकौं दुख दै थाती ॥

राग धानश्री—

सुनौ गोपी हरि कौ संदेश ।
करि समाधि अंतर गति ध्यावहु, यह उनको उपदेस ॥
वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं हैं, वेद पुराननि गाइ ॥
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ ।
वह उपाइ करि विरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ ॥
दुसह संदेश सुनत माधौ कौ, गोपीजन बिलखानी ।
सूर विरह की कौन चलावै, बूड़ति मीनु बिनु पानी ॥

राग नट—

ऊधौ बेगि मधुबन जाहु ।
जोग लेहु संभारि अपनौ, बेचियै जहँ लाहु ॥
हम बिरहिनी नारि, हरि बिनु कौन करै निबाहु ।
तहीं दीजै मूल पूरै, नफौ तुम कछु खाहु ॥
जो नहीं ब्रज में बिकानौ, नगर नारि बिसाहु ।
सूर वै सब सुनत लै हैं; जिय कहा पछिताहु ॥

राग धनाश्री—

ऊधौ हम आजु भईं बड़ भागी।
जिन अँखियनि तुम श्याम बिलोके, ते अँखियाँ हम लागीं॥
जैसैं सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी।
अति आनन्द होत है तैसैं, अङ्ग अङ्ग सुख रागी॥
ज्यौं दरपन मैं दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी।
तैसैं सूर मिले हरि हमकौं, बिरह बिथा तन त्यागी॥

राग सारंग—

मधुकर भली सुमति यह खोई।
हाँसी होन लगी है ब्रज मैं, जोगहिं राखहु गोई॥
आतम ब्रह्म लखावत डोलत, घट घट ब्यापक जोई।
चाँपे काँख फिरत निरगुन गुन, इहाँ न गाहक कोई॥
प्रेम कथा सोई पै जानै, जा पै बीती होई।
तू नीरस एती कह जानै, बूझि देखियै लोई॥
बड़ौ दूत तू बड़ी ठौर कौ, बड़ी बुद्धि सु बुड़ोई।
सूरदास पूरो दै षटपद, कहत फिरत है सोई॥

राग देवगंधार—

ऊधौ हरि गुन हम चकडोर।
गुन सौं ज्यौं भावै त्यौं फेरौ यहै बात कौ ओर॥
पेंड पेंड चलियै तौ चलियै, ऊबट रपटै पाइँ।
चकडोरी की रीति यहै फिरि, गुन हौं सौं लपटाइ॥
सूर सहज गुन ग्रन्थि हमारैं, दई स्याम उर माहिँ।
हरि के हाथ परै तौ छूटै, और जतन कछु नाहिँ॥

राग सारंग—

मधुकर जुवती जोग न जानैं।
एक पतिब्रत हरि रस जिनकै, और हृदै नहिँ आनैं॥
जिनकै रङ्ग रस रस्यौ रैनि दिन, तन मन सुख उपजायौ।
जिन सरबस हरि लियौ रूप धरि, व है रूप मन भायौ॥
तू अति चपल आपनै रस कौ, या रस मरम न जानै।
पूछौ सूर चकोर चढे, चातक घन केवल मानै॥

राग केदारौ—

ऊधौ तिहारे पा लागति हौं, बहुरिहुँ इहिं ब्रज करवी भाँवरी।
निसि न नींद भोजन नहिँ भावै, चितवत मग भइ दृष्टि झाँवरी॥
वहै वृन्दावन वहै कुञ्ज घन, वहै जमुना वहै सुभग साँवरी।
एक स्याम बिनु कछु न भावै, रटति फिरतिँ ज्यौं बकति बावरी॥
चलि न सकति मग डुलत धरत पग, आवति बैठत उठत तावरी।
सूरदास प्रभु आनि मिलावहु, जग मैं कीरति होइ रावरी॥

राग सारंग—

जब तैं सुन्दर बदन निहारयौ ।
ता दिन तैं मधुकर मन अटक्यौ, बहुत करी निकरै न निकारयौ ॥
मातु, पिता, पति, बन्धु, सुजन, नहिं, तिनहूँ कौ कहिबौ सिर धारयौ ।
रही न लोक लाज मुख निरखत, दुसह क्रोध फीकौ करि डारयौ ॥
ह्वैबौ होइ सु होइ कर्मबस, अब जी कौ सब सोच निवारयौ ।
दासी भईं जु सूरदास, प्रभु, भलौ पोच अपनौ न बिचारयौ ॥

राग मल्हार—

ऊधौ अँखियाँ अति अनुरागी ।
इकटक मग जोवतिं अरु रोवतिं, भूलेहुँ पलक न लागी ॥
बिनु पावस पावस करि राखी, देखत हौ बिदमान ।
अब धौं कहा कियौ चाहत हौ, छाँड़ौं निरगुन ज्ञान ॥
तुम हौ सखा स्याम सुन्दर के, जानत सकल सुभाइ ।
जसैं मिलैं सूर के स्वामी, सोई करहु उपाइ ॥

राग नट—

अब अति चकितवंत मन मेरौ ।
आयौ हौ निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ ॥
जौ मैं ज्ञान कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परस्यौ नेरौ ।
अति अज्ञान कछु न कहत न आवै,दूत भयौ हरि केरौ ॥
निज जन जानि मानि जतननि, तुम कीन्हौ नेह घनेरौ ।
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ ॥

राग धनाश्री—

ऊधौ पा लागति हौं कहियौ, स्यामहिं इतनी बात ।
इतनी दूरि बसत क्यौं बिसरे, अपने जननी तात ॥
जा दिन तैं मधुपुरी सिधारे, स्याम मनोहर गात ।
ता दिन तैं मेरे नैन पपीहा, दरस प्यास अकुलात ॥
जहँ खेलन के ठौर तुम्हारे, नन्द देखि मुरझात ।
जौ कबहूँ उठि जात खरिक लौं, गाइ दुहावन प्रात ॥
दुहत देखि औरनि के लरिका, प्रान निकसि नहिं जात ।
सूरदास बहुरौ कब देखौं, कोमल कर दधि खात ॥

राग नट—

कहियौ जसुमति की आसीस ।
जहाँ रहौ तँह नन्द लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस ॥
मुरली दई दोहनी घृत भरि, ऊधौ धरि लइ सीस ।
यह तौ घृत उनही सुरभिनि कौ, जे प्यारी जगदीस ॥
ऊधौ चलत सखा मिलि आए, ग्वाल बाल दस बीस ।
अबकैं यह ब्रज फेरि बसावहु, सूरदास के ईस ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ४८वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४५वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

"षष्ठम् अध्याय"

श्रीकृष्ण-बलराम का यज्ञोपवीत और गुरुकुल में प्रवेश

कारिका—**एवं पूर्वनिरोधस्य सान्त्वनोत्कर्षवर्णनम् ।**
कृत्वा भविष्ययोश्चैव सान्त्वनं विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार उद्धव द्वारा सान्त्वना कराने से प्रथम किए हुए तामस निरोध का उत्कर्ष सिद्ध किया, इस प्रकार सान्त्वन दूसरे निरोध में नहीं करते हैं, जिसका वर्णन कर अब होने वाले राजस तथा सात्त्विक भक्तों के सान्त्वन का वर्णन करते हैं ॥१॥

कारिका—**मथुरावासिनः सर्वे राजसाः परिकीर्तिताः ।**
सात्त्विकाः पाण्डवा भक्तास्तयोः सान्त्वनमुच्यते ॥२॥

कारिकार्थ—मथुरा में रहने वाले भक्त राजस हैं और पाण्डव सात्त्विक भक्त हैं, इन दोनों का सान्त्वन कहते हैं, उत्कर्ष नहीं कहते हैं ॥२॥

कारिका—**राजसत्वप्रसिद्धयर्थं स्त्रीपुंसोरत्र वर्णनम् ।**
प्रक्रियान्तररूपा हि किञ्चिद्द्वारा तथा कृताः ॥३॥

कारिकार्थ—स्त्री और पुरुष दोनों के राजसत्व की प्रसिद्धि के लिए यहाँ छठे व सातवें अध्याय में वर्णन किया है । पाण्डव सात्त्विक भाव वाले हैं, उनको अक्रूरजी द्वारा सान्त्वना दिलाई है । सात्त्विक पाण्डवों की सान्त्वना का राजस प्रकरण में वर्णन इसलिए है कि सान्त्वना देने वाला अक्रूर, राजस हैं ॥३॥

कारिका—**अक्रूर उद्धवान्मुख्यः ततोग्रे प्रेषणं मतम् ।**
दासभावे तूद्धवस्तु शास्त्रतस्त्वयमेव हि ॥४॥

कारिकार्थ—अक्रूर उद्धवजी से मुख्य है, इस कारण से उसको अपने पधारने से पहले भेजा है । यों करने से उद्धवजी की हीनता प्रकट होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि उद्धवजी दास भाव में मुख्य हैं और अक्रूर शास्त्र द्वारा लौकिक में मुख्य है, अतः अपने-अपने गुण में मुख्य होने से, दोनों स्वरूप से समान हैं ॥४॥

कारिका—**स्त्रीसान्त्वनं तु पुरतः राजसत्वात्स्वरूपतः ।**
वाचान्यस्य निरूप्यं हि स्तुत्या च प्रेषणेन च ॥५॥

कारिकार्थ—प्रथम स्त्री सान्त्वन प्रद्युम्न स्वरूप से किया है, क्योंकि यह राजस लीला है । अक्रूर की सान्त्वना, वाणी, स्तुति और हस्तिनापुर भेजकर की है ॥५॥

कारिका—**पञ्चचत्वारिंशेध्याये कुब्जाक्रूरातिसान्त्वनम् ।**
कायेन वचसा चक्रे भाव्यर्थमिति वर्ण्यते ॥६॥

कारिकार्थ—४५वें अध्याय में कुब्जा और अक्रूर दोनों की सान्त्वना की ।

कुब्जा को वरदान दिया था, अतः काया से उसकी सान्त्वना की। अक्रूर की वाणी से सान्त्वना की, दोनों को अति क्लेश था, इसलिए इनकी सान्त्वना पहले की है ॥६॥

आभास—प्रथममेकादशभिः कुब्जायाः कथामाह साधिकैः **अथ विज्ञायेति**।

आभासार्थ—इस प्रकरण में प्रथम ११ श्लोकों से कुब्जा की कथा कहते हैं। उस कथा में एकादश मनोवृत्तियों को तृप्त करने से भी कुछ अधिक करना है, जिसका वर्णन 'अथ विज्ञाय' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।**
सैरन्ध्र्याः कामतप्ताया: प्रियमिच्छन्गृहं ययौ ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि सबकी आत्मा, सर्वदर्शी भगवान्, कामदेव से संतप्त कुब्जा को जानकर, उसका प्रिय करने की इच्छा से उसके घर पधारे ॥१॥

सुबोधिनी—तस्या हि सर्वा मनोवृत्तयः पूरणीयाः ततोप्यधिकं च कर्तव्यमिति, आदौ भगवान् तस्या गृहे स्वयमेव गत इत्याह **अथेति**। **अथ** भिन्नप्रक्रमे भक्त्यभावात्, परं तस्या दुःखं तुल्यमिति तन्निवृत्त्यर्थं गत इत्यभिप्रायेणाह **विज्ञायेति**। प्रकरणात् कामसन्तापम्। ज्ञाने सामर्थ्यं **भगवानिति**। तथाकरणे दोषाभावे चावश्यको हेतुः **सर्वात्मेति**। दृष्ट्वावश्यं प्रतीकारः कर्तव्य इति **सर्वदर्शन** इति फलमुखो हेतुरुक्तः। पूर्वमयोग्यता देहे स्थितेति न तस्याः कामपीडा। इदानीं तु देहे योग्येपि स्त्रीचर्यां सर्वां जानातीति तस्याः कामपीडा महती जातेत्याह **सैरन्ध्र्या** इति। सैरन्ध्री ह्यन्तःपुरेऽधिकारिणी स्त्री स्त्रीचरित्रं जानातीति कामतापो युक्त एव। तस्या आगमनसामर्थ्याभावात् स्वयमेव **गृहं ययौ**। स्वगमनमात्रेणैव तस्यास्तापो निवर्तित एव तथापि **प्रियमिच्छन् ययौ**। मनसा तस्याः प्रियं भवत्विति विचारितवान्। ॥१॥

व्याख्यार्थ—उसके मन की सब वृत्तियाँ तो पूर्ण करनी है, किन्तु उससे भी अधिक करना है, यों विचार कर भगवान् पहले उसके घर आप ही पधारे। कुब्जा में भक्ति नहीं थी अतः यह दूसरा विषय है, इसीलिए 'अथ' शब्द दिया है, किन्तु उसका दुःख व्रजवनिताओं जैसा है, अतः उसको मिटाने के लिए गए। इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए 'इति विज्ञाय' पद दिया है। जिसके कहने का प्रकरणानुसार भाव है कि कुब्जा काम संतप्त थी। आप भगवान् हैं, इसलिए इसको जानने की आप में सामर्थ्य है। पर पुरुष होकर काम तृप्ति करना तो दोष है, इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि कोई दोष नहीं है; क्योंकि आप सर्व की आत्मा हैं, अतः दुःख जानकर उसका उपाय अवश्य करना चाहिए। आप समदर्शी हैं, यह फल मुख्य कारण है। इसको काम पीड़ा पहले नहीं थी; क्यों कि देह से कुबड़ी थी, अब देह सुन्दर हो गई और अन्तःपुर में अधिकार वाले ओहदे पर थी। जिससे स्त्री चरित्र पूर्णतः जानती थी, इसलिए काम की पीड़ा विशेष होने लगी और वह इस योग्य ही है।

वह भगवान् के पास आवे, वैसी सामर्थ्य उसमें नहीं थी, अतः आप ही उसके घर पधारे, भगवान् के केवल वहाँ जाने की इच्छा से ही उसका काम निवृत्त ही हुआ, तो भी उसको प्रसन्न करने की इच्छा से वहाँ गए, उसका प्रिय हो, यों भगवान् ने मन से विचार किया ॥१॥

आभास—ननु किमित्येवं विचारेण कर्तव्यमिव हि प्रियं तद्गमनेनैव भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थं भगवदिच्छया जातोत्कर्षं गृहं वर्णयति **महार्हे**ति सार्धेन ।

आभासार्थ—इस प्रकार विचार करने से क्या होगा ? उसका प्रिय करना है, तो वह उसके घर जाने से होगा, इस शङ्का के मिटाने के लिए विचार मात्र करने से भगवदिच्छा होते ही उसके गृह का उत्कर्ष हो गया अर्थात् गृह सर्वोत्तम बन गया, जिसका वर्णन 'महार्होपस्करै' इस डेढ़ श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रगगन्धैरपि मण्डितम् ॥२॥

श्लोकार्थ—सब प्रकार की घर के योग्य बहुमूल्य वाली सामग्री से घर सुसज्जित हो गया । जिसमें काम को बढ़ाने वाली वस्तुएँ धरी हैं । मोतियों की माला, पताका, चँदोवा, सोने के लिए शय्याएँ आदि सब सजी हुई हैं । सुगन्धि धूप, दीप, फूलों की मालाएँ और चन्दन आदि सिद्ध हुए धरे थे अर्थात् तैयार रखे हुए थे ॥२॥

सुबोधिनी—यथा प्राकृतमपि गृहं भगवदिच्छयैवं जातं, एवं सापि गोपिकातुल्या भविष्यतीति प्राकृतायास्तथात्व कर्तव्यमिति प्रियेच्छा युक्तैव । **महार्हण्य**मूल्यानि गृहादीनि पात्रादीन्य**पस्करा** यस्य तैर्वाऽऽढ्यं सपन्नं । **कामोपायाः** कामशास्त्रोक्तानि साधनान्युद्दीपकानि चित्राणि पुष्पादिसंपत्तिः इन्दुर्मन्दिरमित्यादीनि तैरु**पबृं**हितं लौकिकस्तच्छास्त्रीयश्चोत्कर्ष उक्तः । अलौकिकोत्कर्षमाह **मुक्तादामभिः पताकाभिश्च** बहिर्म**ण्डितम्, वितानै**श्चन्द्रातपत्रैः **शयनासनै**ः शयनार्थमुपवेशनार्थं च सुखस्पर्शास्तरणैः प्रत्यहं वैशेषिकैरपि मण्डितमित्याह **धूपै**रिति । अगरुसम्भवा आमोदाः **दीपा** अग्निमयाः मणिमयाः **स्रग्भि**र्गन्धै**श्च** शैत्यार्थं सर्वत्र लेपनं मण्डनम् । एवं त्रिविधोप्युत्कर्षः भगवदिच्छया तस्मिन् गृहे जात उक्तः ॥२॥

व्याख्यार्थ—जैसे कुब्जा का लौकिक साधारण घर भी भगवदिच्छा से वैसा हो गया, इस प्रकार कुब्जा भी गोपियों के समान होनी चाहिए, वैसी भगवान् की इच्छा योग्य ही है । गृह के सब भाग, पात्र आदि सर्व सामग्री अमूल्य थी, जिससे सारा गृह भरपूर हो गया था । इस प्रकार गृह का लौकिक उत्कर्ष वर्णन कर अब शास्त्रीय उत्कर्ष कहते हैं । काम शास्त्र में जो काम को बढ़ाने वाली सामग्री कही है, वह सब तैयार थी, जैसे कि चित्र, पुष्प मालाएँ तथा उद्दीपक रसायन आदि । अब अलौकिक उत्कर्ष का वर्णन करते हैं, मोतियों के गुच्छों से, पताकाओं से गृह के बाहर का भाग

सुशोभित था। भीतर का भाग चँदोवा एवं सोने तथा बैठने के लिए पलङ्ग आदि जिसको स्पर्श करने से सुख उत्पन्न हो, वैसे कोमल बिछौने आदि थे। फिर नित्य विशेष प्रकार से उनको सुसज्जित किया जाता था। इसके सिवाय सुगन्ध के लिए धूप, प्रकाशार्थ मणिमय दीप, शीतलता आदि के लिए चन्दन, पुष्प मालाएँ, इसी भाँति सुशोभित गृह का तीन तरह से उत्कर्ष भगवदिच्छा से हुआ ॥२॥

आभास—ततो गते भगवति यद्वक्तव्यं तदाह **गृहं तमायान्तमिति**।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् के पधारने पर कुब्जा ने प्रेम पूर्वक सत्कार किया, जिसका वर्णन 'गृहं तमायान्त' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात्
सद्यः समुत्थाय हि जातसंभ्रमा।
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं
सभाजयामास सदासनादिभिः ॥३॥

श्लोकार्थ—घर में पधारते हुए भगवान् को देखकर वह कुब्जा शीघ्र ही आसन से उठकर आते ही घबरा गई, फिर सावधान हो सखियों के साथ आकर भगवान् से मिली, अनन्तर आसन आदि देकर उनका सर्वथा सत्कार किया ॥३॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छाविषयत्वादगृहस्यापि कर्मता, यतस्तं तादृशं भगवन्तमायान्तमवेक्ष्य तथैवासनादुत्थाय प्रथमं **जातसंभ्रमा** जाता इति कर्तव्यतामूढा जाता। युक्तश्चायमर्थः। ततः **यथावदुपसङ्गम्य सखीभिः** सहिता **सभाजयामास**। ननु कान्तोयं पूजया विलम्बितो निवृत्तकामो भवेत्तत्राह **अच्युतमिति**। **सदासनादिभिरिति**। सुवर्णमयाद्यासनानि शय्यामयानि वा अनुपभुक्तानीति सत्पदेन ज्ञापितम् ॥२॥

व्याख्यार्थ इस श्लोक में भगवान् की इच्छा का विषय 'गृह' है, अतः गृह भी कर्म है, इसलिए 'अवेक्ष्य' क्रिया के 'गृहं' और 'तं' दो कर्म हुए, जिसका सम्बन्ध इस प्रकार समझना, भगवान् ने इच्छा की थी कि कुब्जा का गृह सर्व प्रकार सुन्दर हो जावे, अतः भगवान् ने आते ही प्रथम घर को देखा पश्चात् स्वागत कराया, जिससे गृह कम है और कुब्जा ने तो भगवान् को देखा, जिससे 'तं' कर्म है। कुब्जा भगवान् को अपने गृह आते हुए देखकर आसन से सहसा उठी, तो घबरा गई, क्योंकि अन्तःकरण में यह विचार हुआ कि इनका स्वागत मैं कैसे कर सकूँगी जिससे ही घबराहट हुई, थोड़ी देर के बाद मन को सम्भाल सखियों के साथ भगवान् से मिलकर उनका सर्व प्रकार सत्कार करने लगी।

यह कान्त[1] हैं, यदि पूजन आदि में विशेष समय लग जाएगा, तो उसका काम शान्त हो

१- पति,

जाएगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि इनका काम देरी हो जाने पर भी शान्त न होगा, इसलिए शुकदेवजी ने यहाँ आपका नाम 'अच्युत' दिया है, जिसका भावार्थ है कि आप जैसे पूर्ण है, वैसे सदा पूर्ण ही रहते हैं, उसके पूर्ण स्वरूप में किसी प्रकार, किसी अंश की कमी नहीं होती है। आसन आदि वस्तुओं से भी सम्मान किया अर्थात् सुन्दर सुवर्ण के आसन, शैया भी दिए। 'सत्'आसन का विशेषण है, जिसके देने का आशय है कि वे आसन आदि सर्व पदार्थ नवीन हैं, किसी ने ये अपने काम में नहीं लिये हैं ॥३॥

श्लोक—**तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो**
न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।
कृष्णोपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥४॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी का भी साधुपन से सत्कार किया। वे सत्कार पाकर आसन का स्पर्श कर पृथ्वी पर बैठ गए, श्रीकृष्ण भी लोकरीति का अनुकरण करते हुए शीघ्र ही जाकर अमूल्य शैया पर बिराजे ॥४॥

सुबोधिनी—**तथैव उद्धवोपि पूजितः** परं **साधुतया,** अनेन भगवान् भर्तृतया पूजित इति ज्ञायते। कामो हि दोषात्मक इत्यर्थाद् व्यावृत्तिः फलति। **उर्व्यामेवोपविष्टः आसनमुपस्पृश्येति** राजधर्मपरिज्ञानं निरूपितम्। तस्याः कृत्ये जाते भगवानपि स्वकार्यं कृतवानित्याह **कृष्णोपीति**। तदर्थार्थमारोपिते कामे क्षणं विलम्बश्चेज् जगत् काममयमेव स्यादिति **तूर्णमेव शयनं** विवेश। नत्वनिर्दिष्टमुपभुक्तमनुपभुक्तं वा भवेदिति भगवदर्थं वान्यार्थं वेत्यपि शङ्कां व्यावर्तयितुमाह **महाधनमिति**। महद् धनमुत्पादनार्थं यस्य तदप्युत्कृष्टं भगवदर्थमेवेति **विवेशेति** पूर्वोपवेशस्थानाद् विविक्त इति ज्ञापयितुम्। ननु भगवानक्लिष्टकर्मा किमित्येवं प्रार्थनाव्यतिरेकेण स्वयमेव गत इति चेत्तत्राह **लोकाचरितानन्वव्रत** इति। सा हि लौकिकी लोकरीत्यैव ग्राह्येति तस्यास्तथैव मनोरथः सा गृहस्थवदीश्वरवद्भावं न जानाति गुप्तत्वात्, खङ्गव्यवहारं तु जानाति प्रकटत्वात्, अतस्तथैव मनोरथ इति **लोकानां** साधारणानां चरितानि भगवानप्यनुव्रतो जातः। नत्वनुवादकमेतत्पदं निरोधविरोधापत्तेः ॥४॥

व्याख्यार्थ—कुब्जा ने भगवान् की पूजा पति भाव से की और उद्धवजी का पूजन भक्त समझ कर किया। यों समझा जाता है कि जिससे दोष रूप काम की उद्धवजी में निवृत्ति दिखाई। उद्धवजी को राजधर्म का पूर्ण ज्ञान है, अतः आप आसन पर न बैठकर केवल उसका स्पर्श कर पृथ्वी पर बैठ गए। कुब्जा को जो कुछ करना था, उसके हो जाने के अनन्तर भगवान् भी अपना कृत्य करने लगे। कुब्जा के मनोरथ की सिद्धि के लिए धारण किए हुए काम की पूर्णता करने में थोड़ा भी यदि भगवान् विलम्ब करते, तो सम्पूर्ण जगत् काम मय ही हो जाता। इसलिए आप शीघ्र ही शैया पर जाकर बिराजे, किन्तु वह शैया नवीन थी, किसी ने अपने काम में नहीं ली थी एवं कुबरी ने ही दिखाई थी एव बहुमूल्य थी, जिससे यह शङ्का भी मिट गई कि यह शैया अन्य किसी के लिए है वा भगवान् के

लिए है तथा बहुमूल्य थी। इससे भी उसकी उत्कृष्टता तथा भगवान् के लिए ही है, यह सिद्ध हो गया था। जहाँ शैया धरी थी, वह स्थान भी जहाँ प्रथम बिराजे थे, उस स्थान से पृथक् एवं एकान्त में था। भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, वे बिना प्रार्थना के स्वयं वहाँ कैसे गए ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'लोकाचरिताननुव्रत' भगवान् ने इस समय लौकिक चरित्र करने का सङ्कल्प कर लिया, अतः स्वयं गए। कुब्जा लौकिकी स्त्री है, लौकिक रीति को ही जानती है, उसका वैसा ही मनोरथ है, वह गृहस्थ के समान भाव को जानती हैं, ईश्वर भाव गुप्त होने से नहीं जानती है। विट व्यवहार प्रसिद्ध होने से जानती है, अतः उसके मनोरथ के अनुकूल लोक रीति से ही वह ग्रहण करने के योग्य है। भगवान् भी साधारण लोगों के समान चरित्र करने लगे। यों कहना अनुवाद नहीं समझना चाहिए, किन्तु वास्तविक यों किया है। यदि यों न करे, तो कुब्जा का निरोध सिद्ध न होवे, अतः निरोध सिद्धि के लिए भगवान् ने इस प्रकार की लीला की है+॥४॥

आभास—ततः सापि गतेति तस्याः संस्कारपूर्वकं गमनमाह।

आभासार्थ—अनन्तर वह भी वहाँ गई, उसके संस्कारपूर्वक जाने का वर्णन 'सा मज्जनालेप' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रगन्धताम्बूलसुधासवादिभिः।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः॥५॥

श्लोकार्थ—वह भी स्नान, चन्दन का लेपन, वस्त्र, आभूषण, पुष्पों की माला, सुगन्धित अत्तर आदि, ताम्बूल और अमृत के समान आसव आदि पदार्थों का पान आदि से अपने शरीर को सर्व प्रकार सजाकर अर्थात् भोग योग्य बनाकर, लाज युक्त लीला से हँसती तथा विलास युक्त दृष्टि से देखती हुई लक्ष्मीपति के पास आ पहुँची॥५॥

सुबोधिनी—आलेपं सुगन्धादिभिः स्नानार्थमेव भगवदिच्छया पूर्वमेव तस्यास्तथात्वम्, **सुधासव** इति शक्त्यर्थं देहविस्मरणार्थं च कामशास्त्रोक्तद्रव्यपानमुक्तम्। आदिशब्देन तथोद्बोधकानां पदार्थानामपि चन्द्रावर्तादीनां स्थापनम्। एवमेतैः **प्रसाधितशरीरा** तद्भावापन्ना लक्ष्मीपतिरयमिति तथाकरणे शङ्कारहिता **माधवमुपससार**। तया भगवति सर्वे भावाः स्वान्तः स्थिता क्रमेण

+ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस गीता श्लोक के भाव की चरितार्थता दृष्टिगोचर होती है—अनुवादक

सूचिता इत्याह **सव्रीडेति** । स्त्रीभावात् प्रथमसम्बन्धे **व्रीडा**, ततो हासः प्रवृत्तायाः ततो भगवच्चेष्टानां सादरं निरीक्षणं,ततोप्यभिलषितानां भाषणं सूनृतं, अयमग्रे क्रमो भगवता कर्तव्य इति प्रथमतस्तादृशीं चेष्टां कुर्वाणैव गतेत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—भगवदिच्छा से उसको संस्कृत करने योग्य सर्व पदार्थ सिद्ध हुए धरे थे, जिनसे कुब्जा ने प्रथम स्नान कर चन्दन आदि से शरीर पर लेप किया, वस्त्र तथा आभूषण पहने, अमृत सम आसव पीये, जिनसे शरीर में स्फूर्ति हो और नशे से देह की विस्मृति हो, यों करने से यह बताया है कि काम शास्त्र काम केलि करते समय जिन पदार्थों का पान करना चाहिए, वे पान किए; आदि शब्द से यह भी बताया कि वहाँ आयुर्वेद शास्त्रोक्त चन्द्रोदय आदि रस भी धरे थे, जिनके सेवन से काम की जागृति होती है, [इस प्रकार इन पदार्थों के सेवन से शरीर को सुसंस्कृत कर उस भाव को प्राप्त हुई। यों करने में इसको कुछ भी शङ्का न हुई; क्योंकि उसने समझा कि जिसके पास जा रही हूँ वे लक्ष्मीपति हैं, अतः निःशङ्क होकर माधव के पास पहुँची। उसने भगवान् के लिए अपने अन्तः स्थित सर्व भाव क्रम से सूचित किए, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि कुब्जा ने भगवान् को पति और अपने को स्त्री समझा, अतः प्रथम सम्बन्ध के समय जैसे लौकिक स्त्रियाँ लाज करती है, वैसी इसने भी लज्जा की। पश्चात् जब केलि में प्रवृत्त हुई, तब हास करने लगी। अनन्तर भगवान् की चेष्टाओं को आदरपूर्वक देखने लगी। भगवान् की चेष्टाओं मे से जिस प्रकार की केलि की इच्छा हो, उसको भाषण द्वारा प्रकट कहने को सूनृत कहते हैं, इस प्रकार सर्व क्रिया कुब्जा ने की। आगे भगवान् के साथ भी यह क्रम करेगी, अतः प्रथम से ही इस प्रकार की चेष्टा करती हुई ही गई है ॥५॥

आभास—ततः सा कान्ता जाता भगवद्धर्मविशात्ततो यथाभिलषितं कृतवानित्याह **आहूयेति** ।

आभासार्थ—कुब्जा कान्ता हुई, जिससे उसमें भगवान् के धर्मों का प्रवेश हुआ, अतः जैसे भगवान् ने चाहा वैसा ही उसने किया, इसका वर्णन 'आहूय कान्तां' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥६॥

श्लोकार्थ—नव सङ्गम के कारण लज्जा आने से शङ्कावाली कान्ता के कङ्कण से शोभित हाथ को पकड़कर शैया पर बिठाकर उससे रमण करने लगे, जिसका केवल भगवान् को चन्दन अर्पण करने का ही पुण्य था, उस पुण्य का यह फल भगवान् ने इसको दिया ॥६॥

सुबोधिनी—स्वतः प्रवृत्त्यभावे हेतुमाह **नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितामिति** । निकटे गतायाः शङ्कायामाह । **कङ्कणैर्भूषिते करे प्रगृह्येति** । कङ्कणानां परिधानं सुवासिन्या अस्यास्तु भगवद्व्यतिरिक्तः पतिर्नास्तीति भगवांश्चेत् न परिगृह्णीयात् तदा कङ्कणपरिधानं व्यर्थमेव भवेदिति

सूचितम्। **शय्यामधिवेश्येति** प्रथमं प्रथमसुरतमेवोक्तम्। नन्वेषा का, स्त्रीसंबन्धा न सर्वत्र कर्तव्या इति तत्राह **रामयेति**। भोगार्थमेवैषा स्त्री। 'नाग्निं चित्वा रामामुपेया'दिति विशेषनिषेधादन्यदा तया संबन्धो न दोषाय। नन्ववश्यं सुखानुभवे धर्मो हेतुः। 'ततः परमानन्दं कथमनुभवतीत्याशङ्क्याह **अनुलेपार्पणपुण्यलेशयेति**। अनुलेपार्पणादन्यानि पुण्यानि लेशमात्राणि यस्याः। अनुलेपार्पणस्य वा पुण्यमात्रं लेशो यस्याः। अथवा सा त्वनुलेपार्पणपुण्यलेशयुक्तं वातस्तस्याः सहभाव एव कृतः। भगवान् स्वयमेव रेमे तावत्फलं स्वयमेवाधिकं दत्तवान्, न तु कर्मणा जातमिति तथोक्तम्। अथवा। भगवान् सर्वसमर्थः। तस्यास्तावन्मात्रमेव सुखं दत्तवानिति ज्ञापयितुं तथोक्तम् ॥६॥

व्याख्यार्थ - कुब्जा भगवान् के पास गई, किन्तु वहाँ जाते ही प्रथम सङ्गम के कारण लज्जा आने से स्वय प्रवृत्त होने में सङ्कोच करने लगी। अतः भगवान् ने कङ्कणों से सुशोभित हाथ को पकड़ कर शैया पर बिठाया। कङ्कण धारण सुवासिनियों का चिन्ह है, इसका पति भगवान् के सिवाय अन्य कोई नहीं है। यदि भगवान् इसको ग्रहण न करे, तो इसका कङ्कण धारण करना ही व्यर्थ हो जाए। शैया पर पास में बिठाना, यह प्रथम सुरत है। इसके साथ जो प्रथम सुरत किया, तो यह कौन है ? सर्वत्र स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिए, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रामया' यह स्त्री भोग के लिए ही है।

वेद में कहा है कि 'नाग्निं चित्वा रामामुपेयात्' अग्नि चयन कर स्त्री के साथ सङ्गम नहीं करना चाहिए, यह विशेष अवस्था में निषेध है। दूसरे समय में इस प्रकार स्त्री से सम्बन्ध करना दोष नहीं है। धर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु यह तो परमानन्द का अनुभव कर रही है, इस का क्या कारण है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् को चन्दन अर्पण किया, जिसके सिवाय अन्य पुण्य तो नाम मात्र है अथवा चन्दन अर्पण किया, जिसके पुण्य का यह फल लेश मात्र है अथवा चन्दन के अर्पण के पुण्य की लेशवाली यह है, अतः भगवान् ने इसको रमण में गौण रख स्वयं मुख्य रूप से रमण करने लगे। इतना फल भगवान् ने आप ही इसको विशेष दिया, न कि यह परमानन्द; इसको कर्म के फल से मिला है। अथवा भगवान् सर्व समर्थ हैं, इसको इतना ही फल स्वेच्छा से दिया है, यह जताने के लिए वैसा कहा है ॥६।

आभास—ततः सापि लब्धधाष्ट्र्या स्वाभिलषितं कृतवतीत्याह **सेति**।

आभासार्थ—अनन्तर वह भी निर्लज्ज बन गई, जिससे अपनी इच्छानुकूल करने लगी। जिसका वर्णन 'सानङ्ग तप्त' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-**
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य
कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥७॥

श्लोकार्थ—वह कुब्जा काम से तप्त स्तन, छाती तथा नेत्रों के संताप को भगवान् के चरणों को सूँघ कर मिटाती हुई अपने स्तनों को मध्य में लाकर आनन्द स्वरूप कान्त को दोनों भुजाओं से जोर से आलिङ्गन कर, बहुत दिन के काम-ताप को शान्त करने लगी ॥७॥

सुबोधिनी—**सा** सैरन्ध्री अनङ्गेन तप्तयोः **कुचयोः**, षष्ठ्येषा। **उरसः** वक्षःस्थलस्य **अनन्तचरणेन** एतेषां **रुजं मृजन्ती** जाता। स्वरूपतः केनचित्सम्बन्धेन वेत्याशङ्क्य तापस्योभयत्र व्याप्तत्वाद् बहिःस्पर्शेन तापापगमेपि अन्तस्तापनिवृत्त्यर्थमुपायमाह। **जिघ्रन्तीति**। अर्थादनन्तचरणमेव, अनन्तत्वादेव पर्यायेण तापनाशो निवारितः। तथा सति शीघ्रं तापाभावो न स्यात्. न केवलं दुःखाभाव एव तस्याः फलितः किन्तु परमानन्दोप्यनुभूत इत्याह **दोर्भ्यामिति**। पूर्वमेव **स्तनान्तरे** हृदये निविष्टं अन्तर्यामिणं बहिर्दोर्भ्यामालिङ्ग्य **तापं जहौ**। **स्तनान्तरागतं** वा, कान्तत्वात् तथाकरणे नापराधः। न केवलं पर्यवसानवृत्त्या सुखजनकत्वं किन्तु स्वरूपतोपि तथात्वमित्याह **आनन्दमूर्तिमिति**। अत एव **अतिदीर्घमपि** त्रिविधमपि **तापं** जहौ, कामताप एव वा जन्मकोटिष्वनुस्यूतो दीर्घो भवति ॥७॥

व्याख्यार्थ—कुब्जा ने बाहर तथा भीतर के ताप को इस प्रकार मिटाया, प्रथम बाहर का ताप, जिससे स्तन, छाती एवं नेत्र संतप्त थे, उसको भगवान् के चरण से सम्बन्ध कर अर्थात् उसका स्पर्श कर मिटाया और अन्दर के ताप को चरणों को सूँघकर उसकी गन्ध से मिटाया। भगवान् को अनन्त कह कर यह भाव दिखाया है कि ताप क्रमशः शान्त नहीं हुआ, किन्तु सर्व ताप साथ ही नष्ट हो गए। जिससे कुब्जा के केवल ताप का दुःख मिटा, यों नहीं है किन्तु उसको परमानन्द का भी अनुभव होने लगा, जिसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्तनों के मध्य भाग हृदय में स्थित अन्तर्यामी को बाहर प्रकट कर भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए ताप को मिटाया अथवा स्तनों के मध्य में आए हुए को आलिङ्गन किया, यों करने में कोई दोष (अपराध) नहीं है; क्योंकि वे कान्त हैं और यह आलिङ्गन केवल अन्त तक सुखजनक नहीं है, किन्तु स्वरूप से भी आनन्द देने वाले हैं; क्योंकि वे आनन्द स्वरूप हैं, इसलिए ही तीन प्रकार का ताप नाश हुआ। यह काम-ताप जो कोटि जन्मों से तप्त कर रहा था, वह भी अब मिट गया ॥७॥

आभास—एवमनुलेपार्पणफलमुक्त्वा फलानुभवार्थं या भगवतः सेवा कृता रतिरुत्पादिता तस्याः फलं वक्तव्यमिति तन्निरूपयति **सैवमिति** त्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार केवल चन्दन अर्पण का फल वर्णन कर, फल के अनुभव के लिए जो भगवान् की सेवा की और रति को उत्पन्न किया, जिसका फल भी कहना चाहिए, वह 'सैवं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।**
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥८॥

श्लोकार्थ—मोक्ष के स्वामी, अति दुर्लभ, ईश्वर को केवल चन्दन अर्पण करने से प्राप्त किया। आश्चर्य है कि फिर भी वह मन्द भाग्या रही; क्योंकि उसने यह (श्लोक ६ में) माँगा ॥८॥

सुबोधिनी—इदं हि पूर्वस्माद् उत्कृष्टमिति वरत्वेन पर्यवसितम्, तथा सति न फले काचिन् मर्यादा इयदेवेति; तथापि भाग्यमेवाल्पमिति बुद्धिस्तादृश्येवेत्यल्पमेव याचितवतीति शुकस्तां निन्दति **दुर्भगेदमयाचतेति**। दातरि समर्थे प्रसन्नेऽप्यल्पयाचनं भाग्याभावादेव भवति। **सा** पूर्वोक्ता एवं जाता **तं** तथोपकारिणं स्वयमेवागत्य **सर्वसुखदातारं कैवल्यस्यापि नाथं सर्वैरेवोपायैर्दुष्प्रापमीश्वरत्वात्**, अन्यथा साधनाधीनः स्यात्। तादृशमपि **प्राप्य** मोक्षं गोपिकावदवस्थां वा न प्रार्थितवती किन्तु कालपरिच्छिन्नं भगवत्सम्बन्धमेव। यद्यपि स्वरूपतो महान्, तथापि कालेन परिच्छिन्नः फलत्वान्न साधनतामापद्यते, अतो **दुर्भगैव** ॥८॥

व्याख्यार्थ— यह सम्बन्ध पहले से उत्कृष्ट है, इसलिए यह वर दिलाने वाला हुआ है। यों होते हुए भी फल की प्राप्ति में कोई मर्यादा नहीं है कि इतना ही मिलेगा, तो भी इसका भाग्य ही अल्प है, जिससे इसकी बुद्धि वैसी हो गई और मांग भी बहुत कम है, इसीसे शुकदेवजी उसकी निन्दा करते हुए कहते हैं, कि 'दुर्भगेदमयाचत' जब देने वाले समृद्ध हैं, प्रसन्न होने से देना चाहते हैं, तब थोड़ा मांगना मन्द भाग्य का चिन्ह है और यह अच्छे भाग्य न होने से यों अल्प मांगा जाता है।'

वह कुब्जा, इस प्रकार उपकार करने वाले, आप ही पधार कर सर्व सुख देने वाले, मोक्ष के स्वामी, सर्व प्रकार के उपायों से जो प्राप्त नहीं होते हैं, जो ईश्वर होने से दुष्प्राप्य हैं, यदि ईश्वर न होवे तो साधनों के आधीन होवें, वैसे प्रभु को प्रसन्न पाकर भी उनसे मोक्ष वा गोपिकाओं जैसी अवस्था की प्रार्थना न कर केवल कुछ समय के लिए सम्बन्ध की प्रार्थना की है, अतः दुर्भगा है। यद्यपि यह मांग भी स्वरूप से उत्तम है, किन्तु काल से परिछिन्न है। अर्थात् थोड़े समय का सम्बन्ध मांगा है, तो भी फलस्वरूप होने से साधन रूप नहीं है ॥८॥

आभास—याचनमाह **आहोष्यतामिति**।

आभासार्थ— कुब्जा ने मांगा उसका वर्णन 'आहोष्यता' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेम्बुरुहेक्षण ॥९॥

श्लोकार्थ—हे प्यारे! कुछ दिन तो मेरे साथ यहाँ रहो, हे कमलनेत्र! आपका सङ्ग मैं नही छोड़ सकती हूँ, अतः यहाँ रहकर मेरे साथ रमण करो ॥९॥

सुबोधिनी—इहैवोष्यतामिति विवाहस्याकृतत्वात् क्वचिच्छयनं कर्तव्यं तदिहैव कर्तव्यमित्यर्थः। किमित्येवं प्रार्थ्यत इत्याशङ्कायामाह **प्रेष्ठेति**। परमप्रियस्तथोच्यत इति, तत्राप्यन्तर्यामिवत् स्थितिं वारयति **कतिचिद्दिनानि** मया सह **रमस्व**। ननु कोयं निर्बन्ध अयमेव वर इति,

मोक्षादिर्वा कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह **नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं ते** इति। तत्र हेतुरम्बुरुहेक्षणेति। दृष्ट्वैव सर्वसुखदायककामोद्बोधकेति वा ॥९॥

व्याख्यार्थ — यहीं रहो, इन शब्दों के कहने का भावार्थ आचार्य श्री स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि कुब्जा के इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि भगवान् को कहती है कि आपने अब तक विवाह तो किया ही नहीं है, तो कहीं भी आप सोजाओगे, जिससे तो यहीं शयन करना चाहिए। यदि आप कहो कि तुम्हारे पास कैसे सो जाऊं ? यों क्यों कहती हो ? इसके उत्तर में वह फिर कहती है कि आप मेरे परम प्यारे हैं, इसलिए यों कहती हूँ और मैं यों अन्तर्यामि स्थिति के रूप से रहने को नहीं कहती हूँ किन्तु कुछ दिन और मेरे साथ रमण करो। अब यदि कहो कि इस प्रकार का आग्रह वर रूप से क्यों मांग रही हो ? मोक्ष आदि अन्य उत्तम वर क्यों नहीं मांगती हो ? इस पर वह कहती है कि आप कमल नेत्र हैं, आपको देखने से ही सर्व प्रकार के सुख की प्राप्ति हो जाती है तथा काम जागृत होता है, अतः आपका सङ्ग छोड़ नहीं सकती हूँ ॥९॥

आभास—भगवान् यद्यपि बह्वेव सुखं दास्यामीति विचारितवान् तथापि याचितं दत्तवानित्याह **तस्यै कामवरं दत्वेति**।

आभासार्थ— यद्यपि भगवान् ने कुब्जा को अति सुख देने का विचार किया था, किन्तु हत भाग्या ने जो अल्प मांगा तो वही दिया, जिसका वर्णन 'तस्यै कामवरं दत्वा' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदन्वितम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—उसकी इच्छा के अनुसार मान देने वाले सर्वेश्वर भगवान् ने उसका सम्मान करके काम का वर दिया। अनन्तर कुब्जा से सत्कार पाकर उद्धवजी के साथ अपने धाम आए ॥१०॥

सुबोधिनी—सत्यसङ्कल्पत्वात् स्वविचारितमपि दत्तवानित्याह **मानयित्वेति**। तां मानितवान्। भगवान् हि मोक्षं भक्तिं च दातुमागतः येभ्यो दास्यति तन्मध्ये एतामप्यङ्गीकृतवानित्यर्थः। चकारादात्मानमपि। **मानद** इति भगवान् सर्वेभ्यो मानं ददातीति, स्वधर्माच्च **अस्यै** च मानं दत्तवान्, ततो बहिरागत्य **उद्धवेन सहितः** तदिच्छानुसारेण धर्मान्तरमपि परिगृह्य कार्ये संपन्ने पुनः सहजमेव धर्मं गृहीतवानित्याह : **सर्वेश** इति। अनेन तस्या यथा कियद्दिनरमणं भवति तथैव कृतवानित्यपि लक्ष्यते। यथा नारदस्य मायया क्षणमध्ये षष्टिसंवत्सरप्रतीतिः तथास्या अपीति। इतोगतस्य पुनरागमनाभावः सूचितः। नन्वाकाङ्क्षया पुनर्गच्छेदित्याशङ्क्याह। **ऋद्धिमत् स्वधामागमदिति** ॥१०॥

व्याख्यार्थ— श्लोक में भगवान् को मानद कहा है अर्थात् सबको मान देने वाले हैं, अतः इसका मान किया। जिसके रहस्य को आचार्य श्री प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान् सत्य

सङ्कल्प हैं। आपने कुब्जा को भी उनकी गणना में गिना था, जिनको मोक्ष तथा भक्ति देने के लिए आप आए हैं। अतः उस सङ्कल्प को सत्य करने के लिए याचना न होने पर भी वह भी दिया। आपने स्वधर्म से कुब्जा का यही मान किया कि भगवान् सर्वेश हैं, अतः उसकी इच्छा के अनुसार मानव धर्म भी ग्रहण कर वह उसका मनोरथ पूर्ण किया। जिसके पूर्ण हो जाने के अनन्तर फिर वही अपना सहज ईश्वर-धर्म ग्रहण कर लिया। इससे यों भी समझा जा सकता है कि जैसे कुछ दिन रमण हो वैसे ही किया। जिस प्रकार भगवान् ने अपनी माया शक्ति से नारद को क्षण में की हुई लीला को साठ संवत्सरों में हुई की प्रतीति करवाई थी, वैसे ही यहां भी कुब्जा को इससे यह बताया है कि यहां से जाने के पश्चात् मेरा आना असंभव है। अतः यह शङ्का नहीं करनी कि यदि आकांक्षा भी हो तो मैं फिर आ जाऊँ? क्योंकि और इच्छा हो जब फिर चला जाऊँ? जहां मैं जा रहा हूँ वहां मेरे बहुत समृद्धि वाले धाम हैं इसलिए यहां आने की इच्छा होगी ही नहीं यों कह कर अपने समृद्ध धाम को चले आये ॥१०॥

आभास—अत एव भगवन्तं प्राप्य स्वयं न किञ्चित् प्रार्थनीयम्। भगवानेव यत्करिष्यति तत्करोतु, अन्यथा स कुमनीष्येव भवतीत्याह। **दुराराध्यमिति**।

आभासार्थ— इस कारण से ही, भगवान् को प्राप्त कर उनसे स्वयं कुछ भी देने के लिए प्रार्थना नहीं करनी, भगवान् को जो कुछ करना वा देना हो वह करें वा देवें, जो इस प्रकार नहीं करता है वह मूर्ख है, जिसको 'दुराराध्यं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।**
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात्कुमनीष्यसौ ॥११॥

श्लोकार्थ—सब ईश्वरों के ईश्वर दुराराध्य भगवान् को आराधना से प्राप्त कर जो जीव प्रसन्न हुए, उन परमात्मा से अपनी मनोऽनुकूल याचना करता है, वह मूर्ख है ॥११॥

सुबोधिनी—प्रथमतः स आराधयितुमेवाशक्यः, अत एवास्मदादयो मुक्ता अपि तथैव स्थिताः। तादृशमप्याराध्य तत्रापि प्रसादपर्यन्तं सम्यक्। विष्णुं पालनार्थमेवागतमनाराधनेपि पालकम्। तत्रापि सर्वेश्वराणां कालादीनामपीश्वरं नियन्तारं सर्वेषां हि कालग्रासो निवारणीयः। एवं सति यो **मनोग्राह्यं वृणीते** स **कुमनीषी** महाराजस्थाने गत्वा स्वयं क्षुधितः सर्वोपद्रवयुक्तोपि स्वसंबन्धिने मर्कटाय यथोदनं प्रार्थयते तद्वत् स्वयमात्मा मर्कटरूपाय मनसे हितं प्रार्थयतीति। नन्वेवमस्तु तथाप्यल्पमेव प्रार्थितं भवेन् न तु मर्कटवदित्याशङ्क्याह। **असत्त्वादिति**। न हि मनोधर्माः स्वस्य भवन्ति, अध्यारोपितास्त्वसन्त एव, तर्हि कथं प्रार्थयत इत्याशङ्क्याह। **कुमनीषीति**। सा हि दुर्बुद्धिः, अतः प्रमादादन्यथा प्रार्थयत इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ— शुकदेवजी कहते हैं कि प्रथम तो उसकी आराधना करनी ही कठिन है, इसलिए ही हम जो मुक्त हैं, वे जो वैसे ही ठोठ[1] रह गए हैं। जो पालन के लिए ही प्रकटे हैं, जो बिना आराधना करने वाले की भी पालना करते हैं जो काल आदि के भी ईश्वर हैं, जो सब के कालग्रास को भी निवारण करते हैं, ऐसे प्रभु की आराधना कर और उनको प्रसन्न करने के अनन्तर जो जीव अपने मन की (इच्छानुकूल) याचना करता है, वह मूर्ख है। जैसे कोई महाराजा के पास जाकर स्वयं भूखा एवं सर्व प्रकार के दुःखों से घिरा हुआ भी महाराजा से अपने पास रहने वाले बंदर के लिए ही टुकड़ा मांगता है तो वह मूर्ख ही है। वैसे ही अखिलेश्वर, आनन्दघन, घनश्याम प्रभु को प्राप्त करके भी आत्मा के लिए मोक्ष आदि न मांग कर मन रूप मर्कट की इच्छानुकूल विषयानन्द मांगता है तो वह मूर्ख ही है, क्योंकि मन के धर्म असत् हैं। वे आत्मा में केवल आरोपित हैं अर्थात् वे मन के धर्म आत्मा के समझे जाते हैं। किन्तु वास्तव में वे आत्मा के नहीं हैं, अतः वे असत् विषय रूप होने से अनित्य, अल्प, और अन्त में दुःखदायी हैं। अतः मनुष्य प्रमाद से वैसी प्रार्थना करने से मूर्ख समझा जाता है ॥११॥

आभास—अक्रूरभवनमिति ।

आभासार्थ— अब 'अक्रूरभवनं' श्लोक से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः ।
किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥१२॥

श्लोकार्थ—कुब्जा के मनोरथ पूर्ण करने के अनन्तर दूसरा कार्यक्रम प्रारम्भ करने के लिए कृष्ण अपने साथ राम और उद्धव को लेकर अक्रूर के घर पधारे; क्योंकि कुछ अपने कार्य कराने की इच्छा थी, साथ में अक्रूर के हित की कामना भी थी ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्मिन्नेव दिवसे अक्रूरायापि वरो दत्त इति तस्यापि गृहे भगवान् गतः। ननु पूर्वं तस्मै वरो दत्त इति कथं व्युत्क्रमेण निरूप्यते तत्राह **कृष्ण** इति। स हि तासामर्थे समागत इति पूर्वमवोचाम। तत्र बलभद्रस्यापि कार्यमस्तीत्यत आह **सहराम** इति। **उद्धवो** हि उत्सवात्मकत्वाद् रसप्रधान एव, रमणं तु स्त्रीभिरेव, अतः कुब्जाया गृहे उद्धवेन सह गमनं, भगवांस्तत्र प्रधानमिति बलभद्रस्य क्रोधोपि स्याद् आवेशभूत इति रमणारमणाभ्यां रसाभासानौचित्ये स्याताम्। अत्र त्वक्रूराय संपूर्णो भावो नेय इति योनिभावार्थं रामं निमित्तभावार्थमुद्धवं च सह नीतवान्। नन्वनाकारितः किमिति गत इत्याशङ्क्याह **प्रभुरिति**। सर्वेषां हि स्वामी सेवकगृहेपि सेवकसंमाननार्थं गच्छति कस्तमाकारयितुं समर्थः। प्रयोजनमाह। **किञ्चित्** क्वचित् प्रेषणं **चिकीर्षयन्**

१– अविज्ञ (मूर्ख)

चिकीर्षामुत्पादयन्नक्रूरे तदर्थं स्वतोप्यक्रूरप्रियकाम्यया च प्रकर्षेण प्रभुरित्यागात्। अस्योपाख्यानं स्मार्ततत्त्वैः प्रतिपाद्यते अयं हि स्मार्त इति ज्ञापयितुम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ— उस दिन अक्रूर को भी वरदान दिया था, अतः भगवान् उसके घर पधारे। अक्रूर को तो कुब्जा से प्रथम वर दिया था, फ़िर कुब्जा के पास पहले क्यों गए ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'कृष्णः' कृष्ण है, वे स्त्रियों के लिए ही आए हैं यों हम पहले से कहते हैं। अक्रूर के यहां बलराम को इसलिए लेगए कि वहां उनका भी कार्य था, उद्धव उत्सवात्मक[1] होने से उसमें रस प्रधान ही है। रमण तो स्त्रियों के साथ ही होता है अतः कुब्जा के घर उद्धवजी को लेकर पधारे थे। बलभद्र को नहीं ले गए, कारण कि वहां भगवान् प्रधान थे। बलराम आवेश के कारण कदाचित् क्रोध करे तो रमण हो या न भी हो। उस द्वैत से रसाभास हो जावे तो वह अयोग्य देखने में आवे। यहां तो अक्रूर को सर्व भाव युक्त कर भेजना हैं, इसलिए योनि के भाव के लिए राम को और निमित्त भाव के लिए उद्धवजी को साथ लिया है। अक्रूर के बुलाए बिना, पराये गृह में कैसे पधारे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभुः' सब के स्वामी है। जिससे सेवक के घर में उसको मान देने के लिए पधारते हैं। उनको बुलाने की शक्ति किसमें है ? अर्थात् किसी में नहीं है। वहां पधारने का दूसरा कारण कहते हैं कि अक्रूर को कहीं अन्य स्थान पर भेजने के लिए, उनसे भी वैसी इच्छा उद्भव करने के लिए, तथा अक्रूर का भी प्रिय करने के लिए जैसे प्रभु पधारते हैं, वैसे पधारे ॥१२॥

आभास— ततो गतानामक्रूरकृतं सत्कारमाह धर्मप्रतिपादनाय **स तानिति**।

आभासार्थ— इसकी यह कथा २५ श्लोकों में कही जाती है, क्योंकि अक्रूर 'स्मार्त' है, अतः स्मार्त धर्मानुसार तत्वों की संख्या २५ कही जाती है। उन तीनों को घर आते देख अक्रूर ने जो कुछ किया वह 'स तान्नरवर' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—स तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान्।
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिवन्द्य च ॥१३॥

श्लोकार्थ—वह उन नर श्रेष्ठों में उत्तम अपने बाँधवों को देख उठ खड़ा हुआ और बहुत प्रसन्न हुआ तथा मिलकर अभिवन्दन किया ॥१३॥

सुबोधिनी—तस्य सर्वे तुल्या अतो मर्यादया पूजयतीति न बलभद्रादेरपि वैमनस्यम्, नरवरेभ्योपि श्रेष्ठान् नरो नरो नरवरो **नरवराच्छ्रेष्ठ**श्चेति वा उद्धवरामस्वामिनः क्रमेणोद्दिष्टाः,

---

१— 'सर्वं विस्मारक उत्सवः' जो अन्य सबको विस्मृत करा देवे, उसको उत्सव कहा जाता है। उद्धव रस प्रधान होने से अन्य सर्व भुला देते हैं, अतः उत्सव रूप कहे जाते हैं।

आरादेव दृष्ट्वा स्वबान्धवानित्यवश्याभ्युत्थाने लौकिकोपि हेतुः, प्रत्युत्थाय प्रथमतः प्रमुदितो जातः, भक्तत्वाभावात् न साष्टाङ्गप्रणामः, पूर्वाक्रूरस्तु मुक्त एव, प्रमोदानन्तरं परिष्वङ्गः, ततोभिवन्दनम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ– उसको तीनों ही तुल्य है, अतः मर्यादा अनुसार तीनों की पूजा की। जिससे बलदेव आदि में विषमता का भाव नहीं है, यह सिद्ध कर दिखाया। नर उद्धवजी, नरवर बलरामजी और नरवर श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन तीनों को अक्रूर ने दूर से आते देखा तो समझा कि ये अपने बाँधव आ रहे हैं। अतः लौकिक मर्यादानुसार घर में कोई आवे तो उठकर उनका सत्कार करना योग्य है, इसलिए अक्रूर उठकर खड़े हो गए और उठकर सर्वप्रथम अत्यन्त प्रसन्न हुए। अक्रूर[1] भक्त नहीं था, अतः साष्टाङ्ग प्रणाम नहीं किया। किन्तु प्रसन्न होने के अनन्तर आलिङ्गन किया, उसके बाद अभिवन्दन किया अर्थात् सिर झुका कर स्तुति की ॥१३॥

आभास—एवं कायिकं वाचनिकमुक्त्वा मानसिकं नमस्कारमाह **ननामेति**।

आभासार्थ—इस प्रकार कायिक और वाचनिक नमस्कार कह कर अब मानसिक नमस्कार 'ननाम' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः।**
पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥१४॥
पादावनेजनीरापो धारयन् शिरसा नृप।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कृष्ण और राम को नमस्कार किया और उन तीनों ने उस का अभिवाद किया, हे राजन्! उसने आए हुए तीनों का आसन आदि से विधिपूर्वक सत्कार किया और अक्रूर ने उनके पादों का प्रक्षालन कर प्रसादी जल अपने सिर पर धारण किया। पूजा के अनन्तर उसने दिव्य वस्त्र, गन्ध, पुष्प मालाएँ और उत्तम आभूषण भी दिए ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—बहिर्नमस्कारस्तु व्यावहारिकः, अत एव भगवतापि ताभ्यां सह नमस्कृतमाह **स तैरप्यभिवादित** इति। पूर्वचकारात् फलाद्युपायनादानम्, द्वितीयादुद्धवं च, **स** त्रिभिरप्यभिवादितः। अपिशब्दस्तुल्यतामापादयति। ततो **गृहागता** इति **पूजयामास विधिवच्छास्त्रदृष्टेन** प्रकारेण यथा महापुरुषानभ्यागतान् पूजयति लोकः। **कृतः आसनपरिग्रहो** यैः। अत्रोद्धवेनापि धर्मानुरोधात्तुल्यतया आसनं गृहीतम्। यथा श्राद्धे गुरुशिष्यौ ॥१४॥

ततः **पादावनेजनीरापः शिरसा धारयन्**। इयं धर्मनिष्ठायामधिका भक्तिः। **नृपेति**। धर्मप-

---

१—जो अक्रूर भक्त था, वह तो मुक्त ही है।

रिज्ञानार्थम्। ततः दिव्यैर्गन्धैः स्रग्भूषणोत्तमैः सहितेनार्हणेन पूजयामासेति पूर्वेणैव संबन्धः। | पूजा साधनरूपा पूजयामासेत्याराधयामासेत्यर्थः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— बाहर का नमस्कार तो लौकिक शिष्टाचार है. जिससे भगवान् ने भी दोनों के साथ नमस्कार किया,इसलिए श्लोक में 'तैरप्यभि वादितः' पद दिया है। श्लोक में दो 'च' हैं, जिनका आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रथम 'च' से यह बताया है कि वे अक्रूरजी को भेंट देने के लिए फल ले आए हैं। दुसरे 'च' का आशय है कि उद्धवजी को भी साथ ले आए हैं। 'अपि' शब्द यहां बराबरी दिखाने के अर्थ में दिया है। तोनों ने भेंट अपण करते हुए अक्रूर को नमस्कार किया। पश्चात् शास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार जैसे लोग घर में आए हुए महापुरुषों का पूजन करते हैं वैसे अक्रूर ने भी पधारे हुए स्व बान्धवों की पूजा की। पूजा का प्रकार बताते हैं कि प्रथम सबको बैठने के लिए आसन दिए। यहां उद्धवजी ने भी धर्म के अनुरोध[1] से बराबरी से आसन ग्रहण किया। जैसे श्राद्ध में गुरु तथा शिष्य दोनों आसन पर बैठते हैं ॥१४।

इसके पश्चात् पाद प्रक्षालन कर, वह जल मस्तक पर धारण किया। इससे अक्रूर ने अपनी धर्म निष्ठा में विशेष भक्ति प्रकट को। परीक्षित को 'नृप' कहकर यह बताया है कि आप धर्म को जानने वाले हैं। इसके अनन्तर सुन्दर सुगन्धि वाले चन्दन, पुष्प, मालाएँ और आभूषण आदि सामग्री से उनका पूजन किया। इस प्रकार पहले से ही यह सम्बन्ध समझना है कि 'पूजयामास' से पूजा तो साधन रूप है, जिसका तात्पर्य है कि अक्रूर ने भगवान् आदि की आराधना की। १५॥

आभास—ततो यत्कृतवांस्तदाह **अर्चित्वेति**।

आभासार्थ— इसके बाद अक्रूर ने जो किया, उसका वर्णन 'अर्चित्वा' श्लोक से करते हैं—

श्लोक— **अर्चित्वा शिरसानम्य पादावङ्कगतौ मृजन्।**
प्रश्रयावनतोक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥१६॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार पूजन करने के बाद मस्तक से प्रणाम करके और चरणों को अपनी गोद में लेकर धीरे-धीरे चांपते हुए अक्रूरजी स्नेह से विनम्र होकर राम-कृष्ण की स्तुति करने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—ततः उच्चासने स्थितस्य भगवतः स्वाङ्कगतौ पादौ मृजन् सेवनार्थं संवाहयन्। प्रश्रयेण अवनतो भूत्वा अक्रूरः पूर्वोक्तः। कृष्ण-रामावुभौ पूर्वं दृष्टावित्यभाषत स्तोत्रं कृतवानित्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ— अनन्तर अक्रूर उच्च आसन पर विराजमान भगवान् के चरणों को गोदी में लेकर, सेवा भाव से उनकी चंपी करने लगा, स्नेह से प्रणाम कर, प्रथम ही देखे हुए रामकृष्ण की स्तुति करने लगा ॥१६॥

१—आग्रह

आभास—तां स्तुतिमाह **दिष्ट्येति** ।

आभासार्थ—अक्रूर ने जिस प्रकार स्तुति की, वह प्रकार 'दिष्ट्या' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।**
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—प्रसन्नता है, जो पापी कंस भ्राताओं के साथ मरा, आपने अपने कुल का बड़े दुःख से उद्धार किया है । अब वह वृद्धि को करेगा, यह सब हमारे भाग्य से हुआ है ॥१७॥

कारिका—**दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनैकेन दोषनुत् ।**
सर्वैर्भावैरिह स्तुत्यो निरोधे ह्यधिकारिभिः ॥
सर्वेष्वेव च भावेषु कृष्णोत्कर्षो निरूप्यते ।
अयुक्तं प्रार्थयेद्यस्तु तस्मै दद्यान्न सर्वथा ॥
न दत्तं पूर्वं गोपीभ्यः नोत्तरस्यापि दास्यति ।
निरोधो ह्यन्यथा न स्यात् फलार्थं कर्म तद्भवेत् ॥
ईश्वरः सर्वहितविदतो रोधो न दूषणम् ।
यथा बालकरोधो हि पित्रापि विनिरूपितः ॥
निवर्तयति कामांस्तान् ज्ञानेन ग्रहिला मतिः ।
यदि स्यादुत्कटा दुष्टा निर्दुष्टा वा विचारितः ॥

कारिकार्थ—दस[1] श्लोकों से स्तुति की गई है, एक श्लोक दोषों को मिटाने के लिए कहा है और एक श्लोक में प्रार्थना की है । यह स्तुति निरोध के अधिकारी भक्तों ने की है, अतः यह स्तुति सर्व भावों से पूर्ण है । सर्व भावों में कृष्ण के ही उत्कर्ष का वर्णन है, भगवान् भक्त को वह वस्तु देते हैं जो योग्य हो । यदि भक्त अयोग्य वस्तु की प्रार्थना करता है, तो भगवान् वह नहीं देते हैं । गोपियों ने प्रथम अयोग्य[2] माँगा, जिससे उनका हित होने वाला नहीं था, अतः भगवान् ने नहीं दिया और देंगे भी नहीं । अर्थात् यदि भगवान् गोपियों को संयोग रस दान करें, तो उनका निरोध ही

१—नव श्लोक सगुण है और एक निर्गुण है, २—संयोग ।

न होवे। वह फल के लिए केवल सेवा रूप कर्म हो जावे। ईश्वर सर्व के हितकारी हैं। अतः निरोध करना दूषण नहीं है। यदि अज्ञ बालक कोई अहित करने वाला कार्य करने के लिए आग्रह भी करे, तो पिता उस कार्य से उसको रोकता है। अर्थात् करने नहीं देता है, जिससे वह बालक अहित से बच जाता है। वैसे ही भगवान् भी जब देखते हैं कि जिस कार्य के लिए मेरा भक्त मुझे प्रार्थना करता है और आग्रही है, तो परम पिता प्रभु ज्ञान देकर उस दुर्मति को बदलाता है; जिससे वह बुद्धि निर्दोष होने से भक्त अपना हित समझ लेता है ॥१-५॥

सुबोधिनी—प्रथमं भगवत्कृतकर्मणामभिनन्दनरूपां स्तुतिमाह स्वसमानत्वेन धर्मः प्रतीतस्तामसोयं भाव इति पूर्ववत्प्रथमः। **दिष्ट्येति**। अस्मदादिभाग्येनैव **पापरूपोयं कंसो हतः**। पूर्ववद्व्याख्यानं। **सानुगो** भ्रातृसहितः। **वां** युवयोर्युवाभ्यामिदं **कुलं कृच्छ्राद्दुरन्तादुद्धृतम्**। अनेन कुलसंबन्धेन कुलस्यानिष्टं शङ्कितं निवारितं प्रत्युतेष्टमेव कृतमिति। **किञ्च**। तस्यैकस्य निवारणेन समुदायपर्यवसितं यदैश्वर्यं कुलस्य तत्प्रत्येकपर्यवसितमपि कृतमित्याह **समेधितमिति**। चकारान् मुक्तमपि कृतं पूर्वसंबन्धे पापादप्युद्धृतमिति, एवं तेन दृष्टं द्वयमेवेति तावदेवाभिनन्दितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ— प्रथम भगवान् ने जो अब तक कर्म किए हैं, उनकी अभिनन्दन रूपा स्तुति करते हैं। अक्रूर को अपने समान भाव वाला धर्म प्रतीत हुआ, इस प्रकार अक्रूर का भाव तामस है। यह तामस भक्तों के समान इसको प्रथम ही हुआ है। यह पाप रूप कंस बन्धुओं के साथ मरा, हमारे भाग्य से ही मरा। यादव कुल जो महान् संकट में पड़ा था, आप दोनों भ्राताओं ने उस संकट से उसका उद्धार किया है। जिससे कुल के सम्बन्ध से ही कुल के अनिष्ट होने की जो आशङ्का थी, वह आपने मिटाकर उसका इष्ट ही किया। उस एक को हटाने से सबका जो ऐश्वर्य था, जिसे उसने अपने पास दबाकर रखा था, वह अब सबको अपने भाग के अनुसार प्राप्त हो गया। कुल के दुःख से मुक्ति और सर्व प्रकार के पाप से उद्धार भी हो गया, और वृद्धि होने लगी है। अक्रूर ने ये दो ही देखे, अतः उनका ही अभिनन्दन (प्रशंसा) किया ॥१७॥

आभास—स्वरूपमाह **युवां प्रधानपुरुषाविति**।

आभासार्थ—दोनों के स्वरूपों का वर्णन 'युवां प्रधान' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ।
भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—आप दोनों प्रधान तथा पुरुष रूप हैं। जगत् के कारण तथा जगत् रूप हैं। आपके बिना यह जगत् कुछ नहीं है। कार्य-कारण रूप जगत् आप ही हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—योनिबीजवदत्रापि व्याख्येयम्। प्रधानपुरुषत्वमाधिदैविकं भविष्यतीति ब्रह्मत्वेनैव स्तुतिर्निर्धर्मिका पर्यवस्यतीत्याशङ्क्याह **जगद्धेतू** इति। कारणार्थमेव **प्रधानपुरुषौ**, निमित्तत्वमात्रं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। **जगन्मयाविति**। विकारे वा तत्प्रकृतवचने वा मयटोर्थविधाने भगवन्मयत्वं जगतो नायाति यद्यपि तथापि भगवत्त्वेन कारणत्वेन जगद्वर्तत इति वक्तुं भगवत एव जगन्मयत्वमुक्तम्। अन्यथाऽसतः सत्ता स्याद् भगवतो वा परिणामः स्यात्। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न'मिति वाक्यात् लोके जगतो महत्त्वविधानात्, तेन भगवन्माहात्म्यं वक्तुं अन्नमयो यज्ञ इतिवज् जगन्मयावित्युक्तम्। ननु तथापि भगवतः साधारणं कारणत्वं स्यात् कालादिवत् समवायिकारणत्वमपि साधारणमेव मृदादिवत्। तत्राह **भगवद्भ्यामिति**। भवद्भ्यां कृष्णरामाभ्यां विभक्तशक्तिभ्यां **विना परमुत्कृष्टमपरमपकृष्टं** चकारात्तदवान्तरा भेदा वा **न** भवन्ति, त्वन्मूलकमेव सर्वम्, यत्र स्वसामर्थ्यं बहु प्रकटयसे तदुत्कृष्टं यत्राल्पं तदपकृष्टमिति ॥१८॥

व्याख्यार्थ— यहां भी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि एक निमित्त रूप और एक बीज रूप है। इस प्रकार व्याख्या करने से यों तो समझा जायगा कि ये आधिदैविक प्रधान पुरुष हैं। इस प्रकार ब्रह्मत्व करने से यह निर्धर्मक की स्तुति हो जावेगी ? इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि 'जगद्धेतु' आप जगत् के कारण है,अतः निर्धर्मक नहीं हो,कारण के लिए ही यदि प्रधान पुरुष हो, तो केवल निमित्त[1]कारण होंगे? इस संशय को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'जगन्मयौ जगत् रूप होने से उपादान[2]कारण भी आप हो, जगत् रूप होने से विकारी बन जावेंगे और मयट् प्रत्यय, विकार में होता है। इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि, मयट्, विकार अर्थ में नहीं है क्योंकि जगत् भगवान् मय नहीं हुआ है, किन्तु भगवान् जगत् मय हुए हैं, जिससे भगवान् जगत् के कारण रूप हैं, अतः मयट् प्रचुर्य अर्थ में है, अर्थात् एक भगवान् बहुत होकर जगत् रूप बने हैं। अतः यहां किसी प्रकार विकार नहीं है। यदि यों न माना जावेगा तो असत् से सत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अथवा भगवान् का विकार जगत् होना चाहिए, ये दोनों हो नहीं सकते, अतः भगवद्गीता के विष्टभ्याहमिद कृत्नं' श्लोक के 'मैं इस समग्र जगत् में चारों तरफ फैला हुवा हूँ'। इस गीता वाक्य के अनुसार लोक में जगत् के रूप का महत्व बताया है और भगवान् का माहात्म्य भी कहा है। जैसे यह यज्ञ अन्नमय वा घृतमय है, सर्व वस्तु में घृत अधिक है, शुष्कता नहीं है। अन्न भी सबको अपने से भी अधिक ही मिलता है। इस प्रकार मान लेने से कालादि के समान निमित्त होने से भगवान् साधारण कारण रूप होंगे और मृत्तिका के समान समवायिकारणपन से भी साधारण बन जावेंगे। इसके उत्तर में कहते हैं कि आपने जो दो विभक्त शक्ति प्रकट दिखाई है उनके सिवाय और कुछ भी नहीं है। जगत् में जो उत्तम है, अथवा अधम है सर्व की जड़ आप ही हैं। जहां अपनी सामर्थ्य अधिक प्रकट करते हो, वह उत्तम है और जहां अपनी सामर्थ्य स्वल्प प्रकट करते हो वह अधम है ॥१८॥

१—निमित्त कारण उसे कहते हैं जो कार्य के पूर्व हो तथा जिसकी कार्योत्पत्ति में आवश्यकता हो। जैसे मिट्टी का घड़ा– कार्य है और चाक व चाक चलाने का डण्डा– निमित्त कारण है।

२—उपादान या समवायि कारण उसे कहते हैं जो आदि, मध्य, अन्त में कार्य से मिला ही रहे। जैसे घड़े में मिट्टी।

आभास—एवं कारणत्वेन च भगवन्तं निरूप्य भगवन्तमेवाधेयत्वेनापि निरूपयति भेदाभेदपक्षपरिहाराय **आत्मसृष्टमिति**।

आभासार्थ— इस प्रकार जगत् का कारण रूप भगवान् है, यह निरूपण कर अब भेद अभेद पक्षों के निराकरण करने के लिए, कहते हैं कि जगत् का आधेय भी भगवान् हैं। 'आत्मसृष्टं' इस श्लोक से उसको समझाते हैं—

श्लोक—**आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः।**
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतिप्रत्यक्षगोचरम्॥१९॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन्! अपने रचे हुए इस विश्व में आप ही रचना के अनन्तर उसमें अपनी शक्तियों से प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार से श्रुति के कहे हुए तथा प्रत्यक्ष में आने वाले पदार्थों में आप ही प्रतीत होते हैं॥१९॥

सुबोधिनी—यद्यप्यात्मसृष्टेर्नैवं भेदाभेदो दोषाय भवति तथापि भिन्नसृष्टावपि यथेदं दूषणं न भवेत् तदर्थमेतदुच्यते। स्वेनैव **सृष्टमिदं** सर्वमेव **विश्वं** सृष्ट्यनुसारेण सृष्ट्यनन्तरमेव वा **अनुपश्चादाविश्य स्वशक्तिभिरिति** सर्वसामर्थ्ययुक्तः **बहुधा ईयते** अनन्तप्रकारेण प्रतीयत इत्यर्थः। तथापि वैदिकोर्थोन्य एव भविष्यति विरोधः शब्द इति चेदित्यत्र तथा निरूपणात्, भ्रमप्रतिपन्नं च भिन्नं स्यात्, अतो न सर्वकर्तृत्वं भगवतः संभवतीत्याशङ्क्याह। **श्रुतिप्रत्यक्षगोचरमिति**। श्रुतिप्रतिपादितो यो विषयः यो वा प्रत्यक्षविषयः सोपि सर्वं त्वमेव, साधारणप्रत्यक्षस्य न वस्तुनिरूपकत्वमित्यभिप्रायेण सामान्यग्रहणम्, गोचरशब्दोपि विशेष्यनिघ्नो भवति। **अन्वाविश्येत्यस्य** वा कर्म। **ब्रह्मन्निति** संबोधनं ब्रह्मवादे सर्वेषामुपपत्तिः सिद्धेति नायमर्थः पुनः साधनीय इति ज्ञापयितुम्॥१९॥

व्याख्यार्थ— यह आत्मस्वरूप सृष्टि है, अर्थात् अपनी इच्छा से बनाई हुई इस सृष्टि का सामवायि*तथा निमित्त* कारण आप हैं। अतः यह सृष्टि आत्म रूप है,जिससे अभेद में यह ऐच्छिक भेद दोष रूप नहीं है तो भी भिन्न सृष्टि में भी जैसे यह दूषण न हो इसके लिए ही यों कहा जाता है। वह प्रकार स्पष्ट कर बताते हैं कि यह सारा जगत् सृष्टि बनाने के तरीके से आपने अपने में ऐसे ही बनाया है। अनन्तर उसमें अपनी शक्तियों से प्रविष्ट हुए हैं, अतः सर्व सामर्थ्य युक्त आप अनन्त रूप दृष्टिगोचर होते हैं, तो भी वैदिक अर्थ दूसरे प्रकार का है। 'शब्द इति चेन्नान्यः' इस सूत्र में वैसा निर्णय किया हुआ है, भ्रम से जो भासमान हो, वह भिन्न होता है। अथवा जहां कोई वस्तु भ्रम से ग्रहण की जावे, वहां भेद है। इससे भगवान् सर्व के कर्ता है, यह असम्भव है। इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जिस विषय को श्रुति ने प्रतिपादन किया है और जो विषय प्रत्यक्ष है, वह सब आप ही हैं। साधारण प्रत्यक्ष से, वस्तु का निरूपण नहीं होता है। अतः साधारण शब्द न देकर 'सामान्य'[1]

१—सब में समान रूप से रहने वाली जाति,

*—पृष्ठ ३६२ पर इन कारणों की व्याख्या १ व २ पाद टिप्पणी में देखें।

शब्द दिया है, गोचर शब्द भी विशेष्य के अधीन होता है, जैसे कि मृत्तिका से घट बनता है, घट से मृत्तिका नहीं बनती है। इससे घट मृत्मय[1] कहा जाता है मृत्तिका को 'घटमय' नहीं कहा जा सकता है, इस प्रकार परमात्मा से जगत् बनता है जगत् से आत्मा नहीं बनती है। इसलिए जगत् को आत्मा रूप कहा जाता है. विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् अपनी शक्तियों से जगत् में प्रविष्ट हुए हैं, जिससे वह आधेय भी होता है। कहने का सरांश यह है कि इसलिए जगत् भगवद्रूप है और भगवान् भी जगद्रूप हैं। अर्थात् आधार आधेय आदि सर्व भगवान् ही है। यह ही शुद्ध अद्वैत ब्रह्मवाद सिद्धान्त है। हे ब्रह्मन्! संबोधन से यह बताया है कि ब्रह्मवाद में सर्व प्रकार की उपपत्ति[2] सिद्ध है, इसलिए इस अर्थ को पुनः सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है॥१९।

आभास—नन्वेकस्य नानात्वं वैचित्र्य वा लोके नास्तीति लौकिकन्यायव्यतिरेकेण केवलमलौकिकमङ्गीकुर्वाणान् प्रति लोकानुसारेणापि एकस्यानेकरूपत्वं दृष्टान्तेनाह **यथा होति**।

आभासार्थ— लोक में एक वस्तु में, नानात्व वा विचित्रता नहीं होती है। लौकिक, न्याय के सिवाय केवल अलौकिक को तो मानते हैं, उनको 'यथाहि' श्लोक में एक अनेक होता है, दृष्टान्त देकर समझाता है—

श्लोक—**यथा हि भूतेषु चराचरेषु महादयो योनिषु भान्ति नाना।**
एवं भवान्केवल आत्मयोनिष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति॥२०॥

श्लोकार्थ—जिस भाँति चर-अचर भूतों की योनियों में पृथ्वी आदि अनेक प्रकार से रहते हैं, उसी भाँति आप अपनी इस सृष्टि में स्वतन्त्रता से प्रवेश कर बहु प्रकार से प्रकाशते हैं॥२०॥

सुबोधिनी—स्थावरजङ्गमेषु **सर्वेष्वेव भूतेषु** वस्तुतः पार्थिवेषु कारणभूतानां पृथिव्यादीनां वैलक्षण्यस्य सिद्धत्वेऽपि जीवसामर्थ्येन तत्र कारणत्वेन प्रविष्टा **महादयो नाना भान्ति**, तत्रोपपत्तिमाह **योनिष्विति**। चराचराणि भूतानि योनिवशादेव तथोत्पद्यन्त इति कदाचिन्महादीनामकारणता प्रतीयेत बीजस्यापि वापनानन्तरं स्वरूपतो नाशाद् योनित्वापत्तिरिति योनिष्वित्युक्तम्। तत्र महादीनां चेद्बीजशक्तिवशात् तथात्वमुपपद्यते तदा बीजापन्नं ब्रह्म पूर्वमेव भगवति विद्यमानं जगद्रूपं स्वसामर्थ्येन शिष्टं स्वाभिलषितप्रकारेण योनिभावापन्ने स्वस्मिन् प्रवेशयेत्। अनःतजगदाकारेण वृद्धचादिषु बह्वल्पपरिग्रहाविर्भावेन भगवानपि **केवल** एव **आत्मयोनिषु** आत्मरूपासु योनिषु जगद्रूपेषु **बहुधा विभाति**, शक्तिवशादविद्यमानस्थाने आकर्षणादनित्यता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **आत्मेति**। सर्वत्र व्याप्त एवाकृष्ट एवाभिव्यक्तो भवतीत्यर्थः। दृष्टान्ते पारतन्त्र्यं प्रतिभासत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं **आत्मतन्त्र** इत्युक्तम्, तदपेक्षयाप्यत्रानेकप्रकारत्वं ख्यापयितुं दृष्टान्तेन नानात्वे समागतेपि प्रकारान्विधत्ते। **बहुधेति**। नन्वहमेवेत्यत्र किं प्रमाणं वादिप्रतिपन्नमतेष्विव भिन्नतयैव तथा जगद्भवत्विति चेत्तत्राह **विभातीति**। कारणापेक्षयाप्याधिक्येन कार्ये भान दृश्यते यथा चित्रपटादिषु, अतो भगवानेवेत्यध्यवसीयत इत्यर्थः॥२०॥

१—मिट्टी से बना हुआ मिट्टी रूप, २—प्रमाण।

व्याख्यार्थ— पृथ्वी से उत्पन्न स्थावर[1] तथा जङ्गम[2] आदि सर्व पदार्थों में पृथिवी आदि की विलक्षणता सिद्ध है, तो भी जीव के सामर्थ्य से कारणपन से प्रविष्ट पृथिवी आदि नाना प्रकार से भासते हैं। क्यों भासते हैं ? इसमें हेतु पूर्वक युक्ति देते हैं, 'योनिषु' चर एवं अचरभूत, जो इस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिसका कारण पृथिवी आदि का समवायि कारण है। बोने के बाद बीज नाश होता है इससे यदि पृथ्वी आदि का कारणपना प्रतीत न हो तो इसलिए 'योनि' कहा है। अर्थात बीज का नाश होते हुए भी उसका समवायि कारण नष्ट नहीं होता है। जब बीज में रही हुई समवायि कारण रूप शक्ति से पृथिवी आदि में नानापन प्रकट होता है, तब भगवान् की अभिलाषा के अनुरूप योनि भाव को प्राप्त जगत् कर्ता अक्षर ब्रह्म, भगवान् में पूर्व ही विद्यमान जगत् को भगवान् की सामर्थ्य से अपने में प्रविष्ट करते हुए अनत जगत् के आकार से भासमान होता है। जब वह जगत् की योनि अक्षर ब्रह्म अनन्त जगतरूप से वृद्धि आदि में बहुत वा अल्प परिग्रह[3]के आविर्भाव से भासता है, तब भगवान् भी अपनी आत्मा[4] जिनका कारण है, उन जगद्रूपों में बहुत प्रकार से भासते हुए भी एक ही हैं। जहां न हो वहां शक्ति के आकर्षण से विद्यमान यदि हो जावे तो वह अनित्यता समझी जायेगी। अर्थात् कहीं है कहीं नहीं है, जहाँ नहीं है वहां शक्ति से खिच जाते हैं, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मा' है अर्थात् सर्व व्यापक होने से सर्वत्र सदैव है। जहां जब जैसी लीला करने की इच्छा होती है, वहां ही स्वतः स्वयं प्रकट हो जाते हैं, यहां भूतों का दृष्टान्त दिया है। वे भूत तो परतन्त्र हैं, क्या ये भी परन्त्रण हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'आत्मतन्त्रः ये स्वतन्त्र हैं, दृष्टान्त की अपेक्षा यहां जो नानात्व है, वह अन्य प्रकार का है। अर्थात् नाना रूपों में भी मैं एक ही हूँ, यह आपका एकत्व वादियों ने जैसे अपने मत में जगत् को पृथक् कहकर एक ही ब्रह्म सिद्ध किया है उसी प्रकार का है क्या ? जिसके उत्तर में कहा गया है कि नहीं, जगत् पृथक् नहीं है, किन्तु मैं जो कारण रूप हूँ, वह मैं कार्यरूप होकर नानात्व से भासमान हो रहा हूँ। जैसे चित्र पट (सिनेमा) में कारण का विशेष प्रकाश होता है, वैसे ही यहां भी कारण की अपेक्षा कार्य में अधिक प्रकाश होता है, अतः सर्वत्र सर्व में आत्मरूप से भगवान् ही एक हैं, योनि और बीज आदि का भेद इस में नहीं है, यह निश्चय हो जाता है ॥२०॥

आभास —एवं जगद्रूपतां निरूप्य कर्तृत्वे प्राप्तान् दोषान् वारयितुमाह **सृजस्यदो लुम्पसीति**।

आभार्थ— इस प्रकार भगवान् ही जगद्रूप हुए हैं, यह बताकर, अब कर्ता होने से जो दोष प्रतीत होते हैं, उनका 'सृजस्यदो' श्लोक से निवारण करते हैं—

श्लोक—सृजस्यदो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥

श्लोकार्थ—आप ही अपनी सत्त्व, रज और तमोरूप गुण शक्तियों से जगत् को रचते, पालते और संहार करते हैं, किन्तु उन गुण और कर्मों के बन्धन में फँसते नहीं

१—वृक्ष पर्वत आदि, २—मनुष्य पशु-पक्षी भी, ३—परिवार, ४—अक्षर ब्रह्म।

हैं। कारण कि आप ज्ञान की आत्मा हैं, जिसके बन्धन का कोई कारण है ही नहीं ॥२१॥

सुबोधिनी—**अदः** प्रसिद्धम्, भगवन्तं दृष्टवतः प्रपञ्चास्फुरणादद इति परोक्षनिर्देशः, अनेनाप्रतिपादनाय गुणत्वम्, तथापि स्मृतिन्यायेन भगवतः कर्तृत्वं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स्वशक्तिभिरिति**। न तु प्रकृतिधर्मैः, धर्मत्वेपि सामर्थ्यमापन्नानोति शक्तित्वम्, यद्यपि शक्तिपदेनैवाभ्यासो नास्तीति कर्मबन्धो निवारित एव तथापि लोकन्यायेनापि दूषणं परिहर्तुं ज्ञानेन तदभावमाह **न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वेति**। तद्गुणैर्बन्धा मोहवशात्कर्मवशाद् बन्धोनिच्छयापि, वेत्यनादरे। स्फुरणे हेतुरप्युक्तः। **रजसा सृजसि तमसा लुम्पसि सत्त्वेन च पासि**, रजस्तमःसत्त्वानां स्वधर्मत्वकालेनापि न बन्ध इति सुतरामेव तुच्छैः लोकैः, तत्र हेतुमाह **ज्ञानात्मनस्त** इति ज्ञानेनापि बन्धाभाव इति सर्वशास्त्राणि भवांस्तु ज्ञानस्याप्यात्मा त्वत्सामर्थ्यादेव ज्ञानं तथा करोतीत्यात्मपदेन सूचितम्। अत एव बन्धहेतूनां निराकृतत्वात् ते सर्वसमर्थस्य को वा बन्धहेतुर्भवति इत्याह **क्व चेति**। चकाराद्देशे कालेवस्थायां च ॥२१॥

व्याख्यार्थ— श्लोक में 'अदः' पद देने का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि यद्यपि प्रसिद्ध यह जगत् भगवान् को स्फुरित नहीं हुआ, इसलिए 'इदं' प्रत्यक्ष वाचक शब्द न देकर परोक्षवाचक 'अदः' शब्द दिया हैं। इस 'अदः' शब्द देने से स्फूर्ति न होने में कारण भी बता दिया, रजोगुण से बनाते हो, तमोगुण से लीन करते हो और सतोगुण से पालते हो। गुण शब्द देकर यह बताया है कि ये रजो, तमो और सतो धर्म प्रकृति के नहीं है, किन्तु मेरे धर्म हैं, अतः मेरी शक्तियाँ हैं, जिससे ही वे कार्य कर सकते हैं। शक्ति पद से यहां अभ्यास (बार बार कार्य करना) नहीं है, इससे कर्म के बन्धन का भी निवारण किया गया है। यों होते हुए भी लोक के न्याय से भी कर्तृत्वहि का दूषण दूर करने के लिए ज्ञान से उसका अभाव बताते हैं, 'न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा' उनके गुणों के कर्मों से आप बन्धन में नहीं आते हो, उनके गुणों से, मोह वा कर्म के वश होने से वा अनादर होते हुए भी अनिच्छा से भी बन्ध होता है, किन्तु आपका बन्धन इस प्रकार का काल से भी नहीं होता है तो तुच्छ लोकों से तो सुतराम बन्धन नहीं होगा, कारण कि जब शास्त्र यों कहते हैं कि केवल ज्ञान से ही बन्धन नही होता है तो आप तो ज्ञान की भी आत्मा हैं। आपके ही सामर्थ्य से ज्ञान बन्धन का नाश करता है, तो जिसको सामर्थ्य से ज्ञान बन्धन का अभाव कर देता है, उस सर्व समर्थ को बन्धन में डालने वाला वहां भो कोई भी हेतु नहीं है अर्थात् कोई देश, काल और अवस्था वैसी नहीं है, जो आपको बन्धन में डाल सके ॥२१॥

आभास—ननु तथाप्यवतारान्यथानुपपत्त्या सोपाधिरेव सत्त्वगुणाभिमानिनोवतार इति लोकप्रसिद्धैश्च सुतरामेवावतारे बन्धो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **देहाद्युपाधेरिति**।

आभासार्थ— सत्व गुण के उपाधि वालों के ही अवतार होते हैं, यह मातुल आदि के मारने की कथाओं से प्रसिद्ध ही है, क्योंकि दूसरे प्रकार से उनकी उपपत्ति नहीं होती है। यों उपाधि से अवतारों के मानने से तो अवतार में बन्धन होगा, जिस शङ्का का निवारण इस 'देहाद्युपाध' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात्।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥

श्लोकार्थ—जन्म उसका होता है, जिसको देह इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, स्वभाव आदि उपाधियाँ होती हैं। आत्मा में ये उपाधियाँ नहीं है, अतः उसका जन्म नहीं है, आप आत्म रूप हैं, अतः आपका जन्म नहीं है। आप में भेद भी नहीं है, जिससे आप का जन्म या मोक्ष नहीं होता है। जिसका यह कारण है कि आप में अविवेक भी नहीं है ॥२२॥

सुबोधिनी—देह इन्द्रियाण्यन्तःकरणं स्वभावः कर्म कालो वा यस्योपाधिभूता भवन्ति तस्यात्मनः प्रथमं भवो भवति। ननु ममापि वसुदेवाद्भवो दृश्यत इति चेत्तत्राह साक्षादिति नटवत् वेषार्थं जन्मप्रकाशनं न जन्म। किञ्च। **आत्मनो भिदापि न स्यात्** पूर्वसङ्घातपरित्यागेन सङ्घातान्तरग्रहणं भेदोत्र विवक्षितः। यतः अयमात्मा न हि सर्वत्र व्याप्तस्तथा भवितुमर्हति आत्मत्वान्न भेदः। भेदाभावाच्च न जन्म, यतो मूलभूते विष्णौ भगवति वा, अत एव हेतोस्तवापि न बन्धः नैव च मोक्षः येन सत्कर्मकरणार्थं धर्मस्थापनादिकं कुर्यात्, अत एव बन्धमोक्षौ न स्याताम्। ननु यावदधिकारं त्वाधिकारिकमितिन्यायेन विष्णोरप्यधिकारान्ते स्मार्तसंमता मुक्तिः। ब्रह्मवादिनोप्येकदेशिनः यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भवन्तो मनुष्या मन्यन्ते तद्ब्रह्म किं भवेदित्याशङ्क्य 'ब्रह्म वा इदमग्र आस' 'आत्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मीति' 'तस्मात्सर्वमभव'दिति वाक्यानुरोधात् प्रपञ्चभवनवत् ब्रह्मविदाप्नाति पर'मित्यत्रापि ब्रह्मज्ञानेनैव ब्रह्मणोपि परत्वप्राप्तिरित्यध्वसीयते। कर्मकाण्डेऽपि 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोग्र आसी'दित्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः। एवं परब्रह्मणोपि दर्शपूर्णमासाभ्यामेवोत्कर्षः प्रतीयते परमेष्ठिशब्दश्च ब्रह्मपर्यायः 'इन्द्रे प्रजापतौ ब्रह्मन्नि'त्यत्र क्रमेण तत्प्रकरणस्थानामेवोपलम्भात्, अतः सर्वेषामेव बन्धमोक्षौ स्त इति मन्यन्ते। किञ्च। 'इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय प्रोवाचे'त्युपाख्याने ब्रह्मविद्याग्रहणमपि श्रूयते, अतः संभावितत्वात् बन्धमोक्षौ प्राप्ताविति तन्निराकरणं युक्तमेव। एते तु निरूपिताः पूर्वपक्षाः अविवेकेनैव प्राप्ता इत्याह **निकामस्त्वयि नोऽविवेक** इति। नोऽस्माकं सर्वेषामेव भ्रान्तानां निकामः स्वेच्छया त्वयि अविवेकोऽधिकारस्तु न स्वामिपरः लोके महाराजेऽधिकारपदप्रयोगाभावात्,परमेष्ठिब्रह्मशब्दौ चतुर्मुखवाचकौ अन्यथा 'यज्ञो वै विष्णु'रिति श्रुत्या दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञत्वविधिर्व्यर्थः स्यात्, ब्रह्मविद्याद्यधिकारोपि संदीपनेरिव लोलया, सभवति, अतास्माकमेवाविवेकः न तु परब्रह्मणि बन्धमोक्षौ कथञ्चित् सम्भवत इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ – देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, स्वभाव, कर्म और काल आदि उपाधियाँ जिसमें होती है उसका जन्म होता है। यदि आप कहो कि मेरा भी वसुदेव के गृह में जन्म हुआ है, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि आपका जन्म साक्षात् नहीं हुआ है,किन्तु नट के समान केवल वेष बदल लेने को, जन्म नहीं कहा जा सकता है। आपने तो नट को भांति केवल वेष बदला है, जन्म लेने में भेद होता है एक सघात(देह का त्याग कर दूसरे संघात के ग्रहण करने को जन्म कहा जाता है। जिसमें भेद होता है, वह भेद भी आप में नहीं है, क्योंकि आप सब में सर्वत्र व्याप रहे हैं। जो व्यापक हैं, उसमें भेद नहीं हो सकता है। कारण कि आप आत्मा होने से सर्वत्र व्याप्त हैं, व्याप्त होने से और भेद

रहित होने से आप मूल रूप विष्णु है। अतः आपका न जन्म हो सकता है और न मोक्ष होता है। जिससे आप सत्कर्म करने के लिए धर्म की स्थापना आदि करें, यों करने की इच्छा मात्र न होने से आपका बन्धन वा मोक्ष होता ही नहीं है। विष्णु की भी स्मार्त सम्मत मुक्ति तो होती ही है, क्योंकि जब तक अधिकार है, तब तक अधिकार का कार्य करना ही पड़ता है। अतः जब तक विष्णुत्व का अधिकार है तब तक तदनुकूल कार्य किये जाते हैं। जब अधिकार की समाप्ति होती है तब कार्य करने का भी समाप्त होता है तो स्मार्त मुक्ति हो जाती है। स्मार्त मुक्ति भी श्रुति सम्मत है, यह बताने के लिए कहते हैं कि ब्रह्मवादियों के भी एक देशी मत में ब्रह्मविद्या से सर्व होता है, तो वह ब्रह्म कैसे होता है? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्मवाइदमग्रआस' 'आत्मानमेवा वैदहं ब्रह्मास्मी तस्मात् सर्वमभवत् आत्मा को ही माने कि यह पहले ब्रह्म था मैं ब्रह्म हूँ' उससे सब होता है श्रुति के इन वाक्यों से जैसे सर्वप्रपञ्च ब्रह्म रूप होता है वैसे ही 'ब्रह्मवित् आप्नोति परं' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म रूप होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। कर्मकाण्ड में भी, परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्। इत्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः' 'परमेष्ठी का यह यज्ञ आगे था' यहां से प्रारम्भ कर दर्शपूर्ण मास से सर्वका उत्कर्ष कहा है, इस प्रकार दर्श और पूर्णमास से परब्रह्म का भी उत्कर्ष प्रतीत होता है, 'परमेष्ठी' पद ब्रह्म के पर्यायरूप (बदले) में दिया है, इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्म ये तीन शब्द उस उस प्रकरण में ब्रह्मवाचक हैं, इससे जाना जाता है कि बन्ध मोक्ष तो सबों का होता है। इस प्रकार वेदान्तियों के एक पक्षवाले का मत है और विशेष में कहते हैं कि 'यह विद्या देवकी[1] के पुत्र कृष्ण को कही गई, इस उपाख्यान से ब्रह्म विद्या का ग्रहण सिद्ध होता है, जिससे बन्ध और मोक्ष की सम्भावना होने से उनका निराकरण करना योग्य ही है। ये तो अविवेक से प्राप्त पूर्व पक्ष है, जिनका निरूपण किया गया है। हम सब भ्रान्त होकर आपमें अविवेक की कल्पना करते हैं। वास्तव में आप में अविवेक है ही नहीं, क्योंकि अविवेक अर्थात् अधिकार तो सेवक को मिलता है। स्वामी में अधिकार का स्थान (गुञ्जाइश) ही नहीं है। कारण कि स्वामी तो स्वतन्त्र स्वेच्छावान् होता है। लोक में भी महाराजा में अधिकार का प्रयोग नहीं होता है अर्थात् महाराजा अधिकारी नहीं कहा जाता है, परमेष्ठी तथा ब्रह्म शब्द यहां ब्रह्मा के वाचक हैं यदि यों न माना जावेगा तो 'यज्ञ विष्णु' हैं इसमें जो दर्शपूर्ण मास को यज्ञकी विधि कही है वह व्यर्थ होगी, ब्रह्म विद्या का अधिकार सांदीपिनि की तरह लीला से ही संभव है, अतः हमारा ही अविवेक है जो आप में बन्ध मोक्ष मानते हैं, आप परब्रह्म हैं। परब्रह्म में कभी भी यह संभव नहीं है ॥२२॥

आभास—तर्हि कथमवतार इति चेत्तत्राह **त्वयोदित** इति।

आभासार्थ—तो अवतार कैसे होते हैं? इसका उत्तर 'त्वयोदित' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः।
बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥

श्लोकार्थ—जगत् के हित के लिए कहा हुआ आपका यह पुरातन वेदमार्ग, जब-जब असत् पाषण्ड के पंथों से बाधित हो जाता है, तब-तब आप सत्त्वगुण को धारण करते हैं ॥२३॥

१—इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय प्रोवाच।

सुबोधिनी—यदैव त्वयोदितो वेदमार्गः पाषण्डपथैर्विरुद्धमार्गप्रतिपादकैः पुरुषैः बाध्येत तदा तेषां च बलिष्ठत्वात् कालवशात् सर्वेषामेव बुद्धिनाशाद् भगवानेव शक्त इति तदा भगवान् सत्त्वगुणं बिर्भति भगवद्गृहीतं सत्त्वं बलवत् सद् रजस्तमसोरभिभावकं भवतीति। अनेन वैषम्यदोषः परिहृतः। नैर्घृण्यदोषस्त्ववतीर्णे नास्तीति न तन्निषेधकं वचनम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ— जिस समय आपके कहे हुए वेद पथ को, विरुद्ध मार्ग का प्रतिपादन करने वाले पुरुष बाधा पहुंचाते हैं और वे बलिष्ठ होने से तथा काल के कारण सबों की बुद्धि का नाश हो जाने से उस बाधा को मिटाने में तब भगवान् ही शक्त होते हैं, अतः भगवान् सत्व गुण को धारण करते हैं, जिससे सतोगुण बलवान् बन के रजो और तमो गुण को दबा देता है, इससे भगवान् में विषमता का अभाव बताया है, अवतार समय नैर्घृण्य दोष नहीं होता है जिससे उसके निषेध का कोई वचन नहीं कहा है ॥२३॥

आभास—नन्विदानीं वेदानां पीडाभावाद् व्यासावतारस्य जातत्वाद् बुद्धावतारस्याद्याप्यजातत्वात् किमनेनावतारेणेत्याशङ्क्याह **स त्वं प्रभोद्येति।**

आभासार्थ— अब व्यास का अवतार हुआ है, बुद्ध का तो नहीं हुआ है, जिससे वेदों को तो पीड़ा नहीं है, तो फिर इस अवतार धारण का क्या प्रयोजन है? जिसका उत्तर 'स त्वं प्रभो' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेवतीर्णः
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु! वही आप आज अपने अंश बलभद्रजी के साथ भूमि के भार को उतारने के लिए यहाँ वसुदेवजी के घर में प्रकट हुए हैं, कारण कि आपको दैत्यों के अंश रूप राजाओं की सैंकड़ों अक्षौहिणी सेना का नाश करना है तथा इस यदुकुल के यश का विस्तार करना है ॥२४॥

सुबोधिनी—स एव त्वं सर्वरक्षको न केवल वेदमात्ररक्षकः। तदाह **प्रभो** इति। क्रियाशक्तेरपि पूर्णाया विद्यमानत्वाद् **वसुदेवस्य** सत्त्वरूपस्य **गृहेभिमानस्थानेभिमानप्रकारेण** पालयिष्यामीत्यवतीर्णः। स्वांशेन बलभद्रेण सह इहैवागत्य **भारमपनेतुं** न तु वैकुण्ठे स्थित्वा मनसा, **अवतीर्णोसीति** संमतिमिव पृच्छन्नाह **भावस्य** महत्त्वख्यापनायाह **सुरेतराणां** दैत्यानामक्षौहिणीनां **शतस्य वधेनेति**। ननु न दैत्याः साम्प्रतं प्रतीयन्त इत्याह **राज्ञामिति**। प्रयोजनान्तरमप्याह **अमुष्य** वसुदेवकुलस्य **यशो वितन्वन्निति** रूपद्वयेनावतरणप्रयोजनद्वयमुक्तम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ— वह ही आप, केवल वेद के रक्षक नहीं है, किन्तु समस्त प्राणी मात्र के रक्षक हैं

क्योंकि आप 'प्रभु' हैं क्रियाशक्ति भी आप में पूर्ण रूप से विद्यमान है। अतः आपने सत्त्वरूप वसुदेवजी के अभिमान स्थान गृह में प्रकट होकर यह दिखाया है कि अभिमान प्रकार से ही सबकी पालना करूंगा डरपोकों की तरह नहीं पालूंगा। इस प्रकार पालने की इच्छा वैकुण्ठ में बैठे हुए केवल मन से नहीं की है, किन्तु, अपने अंश बलभद्रजी के साथ भूभार उतारने के लिए यहां को भूमि पर प्रकट हुए हैं। यह इस प्रकार कहा है कि मानों इस कथन की भगवान् से सम्मति ले रहा है। इस अवतार धारण करने से आपका महत्त्व विशेष प्रसिद्ध होगा, कारण कि आप सैकड़ों दैत्यों की अक्षौहिणी सेना को नाश करेंगे। यहां दैत्य तो दिखाई नहीं देते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि दैत्य ही राजा बन आए हैं। आपके प्रकट होने का दूसरा कारण हैं कि आपको वसुदेव के कुल के यश का विस्तार करना है। दो रूपों से प्रकट होने के दो कारण बता दिए हैं ॥२४॥

आभास—एवं भगवदवतारं प्रसङ्गात् कर्माणि च स्तुत्वा भगवदागमनं स्तौति **अद्येश न इति**।

आभासार्थ— इस प्रकार प्रसङ्ग से अवतार और उसके कर्मों की स्तुति कर अब भगवान् के पधारने की 'अद्येश नो' श्लोक से स्तुति करते हैं—

श्लोक—अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिः।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे ईश! आज हमारे घरों का भाग्य उदय हुआ है; क्योंकि जो सर्वदेव, पितृदेव और नृदेव की मूर्ति हैं और जिसके चरण से निकली हुई गङ्गाजी त्रिजगत् को पवित्र करती है, वे जगत् के गुरू अधोक्षज आप इन घरों में स्वयं प्रविष्ट हुए हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—नो वसतयो गृहा **अद्य भूरिभागा** अस्मत्कुलेऽवतीर्ण इति वयं पूर्वमेव भूरिभागाः। वसतयस्त्वद्य। न इति बहुवचनं भ्रात्राद्यभिप्रायम्। ननु निरोधाधिकारिणो भवन्तः तदर्थमागमनं न तु धर्मार्थमिति कथं वसतीनां कृतार्थतेति चेत्तत्राह **ईश** इति। उभयमपि कर्तुं समर्थः। ननु भगवत्संबन्धादेव तेषां भाग्यमस्तु, पृथक् किमिति निरूप्यत इत्याशङ्क्याह **भूरिभागा** इति। मद्भाग्यं चेद् यदैव मम इच्छा तदैवागच्छेदतो गृहस्यैव भाग्यम्। ननु गृहं हि त्रिगुणात्मकं गुणातीतो हि भगवदनुगुणो भवतीति कथमेवमुच्यत इति चेत्तत्राह **यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिरिति**। गृहाणामपि स्वोत्कर्षो येन सिध्यति तदपि रूपं भगवति वर्तते, गृहं हि देवतायोग्यं भवति पितृणां नराणां च। त्रयो हि लोके गृहे सुखिता भवन्ति, तेषां स्वदेवत्वमुत्कर्षः। देवमात्रे संतुष्टे गृहं युक्तं भवत्यन्यथा व्यर्थम्, एवमितरयोस्तत्र देवोत्तमो भगवानिति तत्प्राप्तौ भवत्येव सर्वोत्कर्षो योग्यता च एवमितरयोः। **किञ्च**। शुद्धिरप्यपेक्षिता सापि जातेत्याह **यत्पादशौचसलिलमिति**। पादशौच-

सलिलं गङ्गा सा परम्परासंबद्धापि देशकालव्यवहितापि जलान्तरेण मिश्रितापि लोकत्रयमपि पुनाति, अत्र तु साक्षादेव पततीति किं गृहभाग्यं वक्तव्यमित्यर्थः। ननु रूपभेदाद् वैलक्षण्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह स त्वमिति। अत्रापि त्वमेव प्रमाणमित्याह जगद्गुरुरिति। तर्हि कथं लोका न जानन्तीत्याशङ्क्याह अधोक्षजेति। बहिर्मुखत्वादज्ञानम्। या वसतीः। पुनर्ग्रहणं तासामभिनन्दनार्थं च ॥२५॥

व्याख्यार्थ—आप जिस दिन हमारे कुल में उत्पन्न हुए हैं, हम तब ही से भाग्यशाली हुए हैं, किन्तु हमारे घर और घर सम्बन्धी भाई बन्धु सब आज भाग्यवान् बने हैं। कारण कि घर में तो आज पधारे हो, यदि आप कहो कि हम तो आपको निरोध के अधिकारी जानकर उसके लिए पधारे हैं न कि धर्म के लिए अर्थात् घर को पवित्र करने के लिए नहीं पधारे हैं ? जिसके उत्तर में अक्रूरजी कहते हैं कि आप ईश हो अर्थात् सर्व कुछ करने के लिए समर्थ हैं, अतः दोनों कार्य करने में समर्थ हो। यदि आप कहो कि तुम्हारे सम्बन्ध के कारण ही घर भाग्यवान् है। अपने से पृथक् उनको भाग्यशाली क्यों कहते हो ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि मेरे सम्बन्ध से उनका भाग्य तब मैं मानूं जब कि मेरी इच्छा से आपका आगमन हुआ हो। अब तो आप स्वयं पधारे हो, अतः गृह के ही भाग्य हैं। यह आपका कहना ठीक नहीं है क्योंकि घर तो त्रिगुणात्मक है और भगवान् के योग्य तो वह है जो निर्गुण होवे। जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप सर्वदेव, पितृदेव और नृदेव की मूर्ति हैं। अतः घरों का जिससे उत्कृष्ट होता है, वह मूर्ति भी आपमें ही विद्यमान है, क्योंकि घर, पितर, देवता और मनुष्य सबके योग्य होता है। पितर, देवता और मनुष्य तीनों ही घर में सुखी होते हैं। वे घर अपने देवता की प्रसन्नता के कारण ही उत्कृष्ट होते हैं, केवल देव के प्रसन्न होने से घर, घर की योग्यता वाला होता है यों नहीं होवे तो घर व्यर्थ है। इस प्रकार पितर तथा मनुष्य की उत्तमता भी उनके देवताओं के प्रसन्न होने पर समझनी चाहिए। उसमें भी यदि देवोत्तम भगवान् प्रसन्न होकर घर में पधारे तो घर की सबसे उत्तमता तथा योग्यता होती है। इसी प्रकार पितर तथा मनुष्यों की भी उत्तमता और योग्यता तो हुई किन्तु शुद्धि की भी अपेक्षा है। जिसके लिए कहते हैं कि जिसके पाद से निकली हुई गङ्गाजी तीनों लोकों को पवित्र करती है, वह भी साक्षात् नहीं, किन्तु परम्परा से उसका जल अपने पास आवे, देश और काल का अन्तराय भी होवे, दूसरा भी जल उसमें मिल जावे, तो भी सबको पवित्र करता है तो, यहां तो साक्षात् वे चरण हमारे घरों में पड़े हैं तो घर के भाग्य की क्या सराहना की जावे ? फिर भी रूप के भेद में भेद होगा, जिसके उत्तर में कहते कि वह ही आप हैं। इसलिए आप ही प्रमाण हैं, क्योंकि आप जगत् के गुरु हैं, यदि मुझको तुम लोक गुरु कहते हो तो लोक मुझे क्यों नहीं लोक गुरु कर जानते वा मानते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'अधोक्षज' हैं ये लौकिक इन्द्रियां बहिर्मुख हैं, अतः उनमें अज्ञान हैं। जिससे वे आपको जान नहीं सकते है। दूसरी बार घर में प्रवेश अभिनन्दन के लिए कहा है ।२५।

आभास—एवं भगवदागमनं स्तुत्वा भगवति प्रपत्तिं स्तौति स्वचिकीर्षितां कः पण्डित इति।

आभासार्थ— यों भगवान् को पधारने की स्तुति कर अब अपनी इच्छित शरणागति को 'क पण्डित' श्लोक से बखानते है—

श्लोक—कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्-
भक्तप्रियाद्दृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! कौन ऐसा पण्डित है, जो आपकी शरण छोड़ दूसरे की शरण ग्रहण करे ? कारण कि आप भक्त प्रिय हैं, सत्यवक्ता हैं, सब के हितकारी सुहृद हैं, कृतज्ञ हैं, भक्तों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, भक्त अपनी आत्मा दे तो आप अपनी आत्मा भी दे देते हैं;जिससे आप में देहवत् वृद्धिह्रास नहीं है, अर्थात् सदैव आप एक रस हो ॥२६॥

सुबोधिनी--स्तुत्यनन्तरं हि फलं प्रार्थनीयं तत्प्रपत्त्यतिरिक्तं नास्तीति ज्ञापयितुं प्रपत्तिमेव स्तौति । प्राणिनां कर्तव्या प्रपत्तिरेव । कर्तव्याकर्तव्यविवेकवान् हि **पण्डितः**, इममेवार्थमधिकृत्य 'पण्डितो बन्धमोक्षवि'दित्युक्तम् । तत्रानायासेन फलसिद्धिः । विद्यमाने स्वोत्कृष्टे समाश्रयणमेव युक्तम् । आश्रयो हि स्वाधीनं सर्वमेव यच्छति । मनस्तु क्षणिकमिति सर्वपदार्थाभिलाषि भवतीति कदा वा किं प्रार्थयेदिति तत्तत्साधनेष्वशक्तो हि प्रपत्तिमार्गमवलम्बते । तदपि कृत्वा चेत्फलं न प्राप्नुयादसमर्थभजनात् तदा प्रपत्तिर्व्यर्थेति को वा विवेकी त्वत्तोपरं शरणं सम्यगीयात्, साधनत्वेन गुरुत्वेन वानुवृत्तिं कुर्यात् न तु शरणं गच्छेत् । नन्वाहृत्य कथं त्वं प्राप्तव्यः । अतोन्यानुवृत्तिः प्रथममावश्यकीति कथमन्यनिरोधः क्रियत इति चेत्तत्राह **त्वदपर** इति । त्वमपरो यस्य नियामकत्वेन न बुद्धया गृहीतः । गुर्वादिस्तु नैवंविधो भवतीति न दोषः । भगवतः शरणागतो हेतूनाह **भक्तप्रियाद्दृतगिरः सुहृदः कृतज्ञादिति** । षट्हेतवो हि भगवति । तत्र फले हेतुद्वयं साधने चतुष्टयमिति । साधनेपि स्वधर्मपुरस्कारेण आश्रितधर्मपुरस्कारेण हेतुवक्तव्यः । अन्यथा फलं काकतालीयं स्यात्, यो हि सेवकानपेक्षते स सेवकेभ्यः प्रयच्छति स ईश्वर एव भवति,तत्रापि सेवकधर्मं चेदुररीकुर्यात्तदैव सेव्यो भवति तदाह **भक्तप्रियादिति** । लोका हि फलार्थं सेवमानाः सेवायामशक्ताश्चेन्न फलं प्राप्नुवन्ति, भजनानुरूपं च प्राप्नुवन्ति न हि प्रभुस्तस्य क्लेशं मन्यतेऽन्यथा दुःखदे साधारणे देशे काले च तान् सर्वान् न प्रवर्तयेत् यथा पुत्रम् । भगवांस्तु न तथा भक्तम्, अतो **भगवानेव सेव्यः** । **किञ्च** : स्वधर्ममप्यवेक्ष्य भक्तहितं करोतीत्याह **ऋतगिर** इति । सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः 'संग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत्' । 'कौन्तेय प्रतिजानीही'त्यादिवाक्यात् । यो हि सेवकक्लेशं सहते स न मनसि शुद्धः, यो वाचि न दृढः स वाचि तथा । यस्तु समागतेवसरे मित्रमिव कार्यं न करोति शरीरतः स काये तथा । एतत्त्रयं लौकिकं स्वतः कर्तव्यम् तस्य कृतं जानातीति तद्धर्मकरणे हेतुरुक्तः । दोषाभावा एते, आत्मवत् पुत्रवच्च भक्ताः कायवाङ्मनोभिः विषयीकर्तव्याः इति गुणः, प्रह्लादे सर्वापत्सु मनसा हितं कृतवान् वाचा गोपिकादिषु कायेनास्मास्विति । एवं भावे भगवद्गुणे न कोपि सन्देहः, कृतज्ञत्वाभावे प्रवाहवत् कारणान्नोत्कर्षः स्यात्, फलदातृत्वमाह **सर्वान् ददातीति** । परेषामनिष्टं स्वानिष्टं वा कर्तुं वाञ्छन्ति तदा न ददातीति ज्ञापयितुं **सुहृद** इति । शुद्धान्तःकरणस्य स्वद्रोहं परद्रोहं वाऽवि-

चारयतः सर्वानेव कामान् ददाति, दाने हेतुर्भजनमित्याह **भजत** इति। एकस्मिन्नपि प्रार्थिते अभितः सर्वतः प्रयच्छति। नन्वन्येऽप्येतादृशा भवन्तीत्याह **आत्मानपीति**। अत्र दाने भजनमेव हेतुस्तेन तारतम्येव सर्गं सङ्गच्छते। यः स्वात्मानं भगवते प्रयच्छति भगवानपि तथा तस्मै प्रयच्छतीति। नन्वेतादृशमपि लोके क्वचित्सिद्धमिति चेत्तत्राह **यस्योपचयापचयौ न स्त इति**। यत्संबन्धिनः सर्वस्यैवोपचयापचयाभावः। उभयनिरूपणमुपचितं चेद्दत्तं तस्य नापचयं करोति। अपचितं चेद्दुःखाधिकं तत्कदाचिदपि नोपचितं करोति। अथवा। एकरूपमेव सर्वेभ्यो भक्तेभ्यः प्रयच्छति। न तु विषमम्, वस्त्वेव तथेति नेच्छापि तत्र प्रयोजिकेति धर्मिणि तौ धर्मौ निरूपितौ॥२६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार आगमन की स्तुति के अनन्तर फल की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। वह फल शरण ही , उसके सिवाय कोई फल नहीं है। इसलिए शरण की स्तुति करते हैं। प्राणियों को प्रभु की शरण ही लेनी चाहिए। पण्डित वह है जो समझ सकता है कि मुझे यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए, जो ऐसी बुद्धि वाला नही है वह पण्डित नहीं। इसलिए ही कहा है कि 'बन्ध और मोक्ष' को जो समझ सकता है, वह पण्डित है। जिसके करने से बन्ध हो, वह अकर्तव्य है अर्थात् नहीं करना चाहिए और जिसके करने से मोक्ष है वह कर्तव्य है अर्थात् उसको करना चाहिए। अतः भक्ति आदि साधनों से भी शरण अनायास ही फल देता है। इसलिए जब स्वतः सर्व साधनों से श्रेष्ठ शरण है, तब उसका आश्रय करना ही योग्य है। आश्रय ही ऐसा साधन है, जो अपने आधीन है। जिससे वह सर्व देता है। मन तो चञ्चल है, क्षण क्षण में नवीन नवीन पदार्थ को इच्छा करता है, तब जीव क्या क्या मांगे? और कब मांगे और किससे मांगे? प्रत्येक पदार्थ को प्राप्ति के लिए पृथक् पृथक् देवों की आराधना रूप साधन करने पड़ते हैं। जीव इतने साधन करने में अशक्त है, अतः जीव शरण मार्ग का ही आश्रय लेता है, किन्तु वह शरण भी अन्य देवों की शरण है तो उससे परम उत्कृष्ट फल न मिलने से वह शरण भी व्यर्थ है। अतः बुद्धिमान् अकर्त्तव्य तथा कर्त्तव्य को समझने वाला आपके सिवाय अन्य की शरण कैसे जावेगा? अर्थात् नहीं जावेगा। आपकी ही शरण लेगा, दूसरों के साधनपन से, वा गुरुपन से भले मान ले, किन्तु उनकी शरण ग्रहण तो कभी भी पण्डित नहीं मानेगा। अन्य गुरु आदि का साधन रूप से भी त्याग करने से सीधे आप प्राप्त नहीं होंगे अतः जब प्रथम अवस्था में यों करना आवश्यक है, तब अन्य की शरण के लिए रोक कैसे की जाती है? इसके उत्तर में कहते हैं कि अन्य वह है जिसका आपने बुद्धि से ग्रहण नहीं किया है, किन्तु केवल नियामक हो, इससे गुरु आदि वैसे नहीं है, अर्थात् आपसे पृथक् नहीं है, जिससे उनके आश्रय करने में दोष नहीं है।

भगवान् की ही शरण लेने में छः कारण कहते हैं :—उन छ में दो हेतु, फल में और चार हेतु साधन में है। साधन में जो हेतु हैं वे भी अपने धर्म से और आश्रित के धर्म से कहने चाहिए, जो यों नहीं कहा जावेगा तो फल "काकतालीय" न्याय के सदृश मिला हुआ समझा जावेगा, अब आश्रित के धर्मानुसार शरणागति का कारण कहते हैं, जिसको सेवक की अपेक्षा है, अर्थात् जिसको सेवक चाहिए वह सेवकों को देता भी है वह ही स्वामी कहा जाता है, इसमें भी जब कोई भी स्वामी सेवक के धर्म को स्वीकार करता हैं अर्थात् सेवक को जिस फल के प्राप्ति की इच्छा है वह देना स्वीकार करता है तब स्वामी सेव्य होता है, इसलिए आप ही भक्त प्रिय हैं आप लौकिक प्रभु के समान नहीं

करते हो, लौकिक स्वामी तो फल के लिए सेवा करने वाले जब अशक्त होने से सेवा नहीं करते हैं तब उनको वे स्वामी फल नहीं देते हैं, वे सेवक जितनी सेवा करते हैं, उतना ही फल पा सकते हैं, विकट देश वा समय में यदि सेवा करने में अशक्त होने से कैसे भी दुःखी हो तो भी उसको वहाँ भेजते हैं लौकिक स्वामी उसके दुःखों पर ध्यान नहीं देते हैं, सेवक पर पुत्र के सदृश दया नहीं करते हैं किन्तु भगवान् यों नहीं करते हैं भगवान् (आप को तो भक्त प्यारे हैं अतः भगवान् ही सेव्य है, भगवान् तो अपना ईश्वर धर्म ही देखकर भक्त का हित करते हैं जिसकी पुष्टि में कहते हैं कि भगवान् सत्य सङ्कल्प हैं, जो संग्राम में शरण आकर कहता है कि 'मैं आपका हूँ' और स्वयं गीता में अर्जुन द्वारा प्रसिद्ध कराया है कि मेरा भक्त नाश नहीं होगा इत्यादि वाक्यों से भक्त का सर्व प्रकार हित कर उसको सुखी हो करते हैं, जो स्वामी सेवक के क्लेश को सहन करता है उसके क्लेश को मिटाता नहीं है उस स्वामी का मन शुद्ध नहीं है, जो अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं है उसकी वाणी पवित्र नहीं है, समय आने पर शरीर से मित्र की भांति सेवक की सहायता नहीं करता है, उस स्वामी की काया अशुद्ध है, ये तीन ही लौकिक हैं, जिनको स्वतः करना चाहिए। इस कृति को जानते हैं, जिससे इन धर्मों के करने में यह हेतु बता दिया है। यहां तक ये सब दोषों के अभाव बता दिए। अब गुण बताते हैं, अपने और पुत्र के समान भक्तों का हित काया, वाणी तथा मन से करते हैं। यह गुण है, प्रह्लाद पर आई हुई समग्र आपदाओं को मिटाया, यह मन से हित किया, वाणी से उद्धवजी द्वारा उपदेश भेजकर गोपियों का हित किया, काया से हम लोगों का हित कर रहे हो इस प्रकार के भगवद्गुण में कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि भगवान् में कृतज्ञता नहीं होवे तो इस प्रकार धारा प्रवाह की तरह कारणों के कहने से भी उनका उत्कर्ष प्रकट न होवे।

अब उनके फलदातापन को कहते हैं। यदि कोई भी अपना अथवा अन्य का जिससे अनिष्ट हो वैसी वस्तु मांगता है तो प्रभु नहीं देते हैं। कारण कि आप सहृद हैं अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं। सब के मित्र हैं सब का ही हित चाहते हैं. अतः जो मनुष्य अपना अथवा अन्य के द्रोह का विचार नहीं करता है,उसको सब कुछ देते हैं। क्यों देते हैं ? क्योंकि वह भजन करता है,भजन करने वाला यदि एक ही वस्तुमांगता है,तो भी सब कुछ दे देते हैं। वैसे तो भजन करने वाले अन्य भी होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मानपि'यद्यपि भगवान् भजन करने वालों को देते हैं, किन्तु जैसे भजन करने वाले भी समान भजन नहीं करते हैं,उनके भजन में तारतम्य है वैसे दान में भी समानता नहीं होता है। भजनानुकूल ही फल मिलता है। जैसे जो भक्त भगवान् को आत्मा तक सब कुछ दे देता है उसको भगवान् भी वैसा ही देते हैं। लोक में वैसा कोई दृष्टान्त है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवान् से जिसका सम्बन्ध है उसमें वृद्धि तथा ह्रास नहीं होता है, अतः दोनों का निरूपण ही योग्य है। भगवान् जिसको जो विशेष सुख आदि देते हैं तो उसको फिर कम नहीं करते हैं। यदि दुःखादिक देते हैं, तो उसको फिर बढाते भी नहीं हैं। अथवा सर्व भक्तों को समान रूप ही देते हैं विषम नहीं देते हैं। भगवान् में वृद्धि ह्रास है ही नहीं, सदा एक रस रूप है। वस्तु ही वैसी है, विषमता करने की इच्छा भी नहीं है, जो इच्छा वहां प्रयोजक है,इस प्रकार धर्मों में दोनों धर्म निरूपण किए हैं॥२६॥

आभास—एवं सर्वप्रकारेण स्तुत्वा किञ्चित् प्रार्थयते **दिष्ट्या जनार्दनेति**।

आभासार्थ—यों सब तरह से स्तुति कर 'दिष्ट्या जनार्दन' श्लोक से कुछ प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे जनार्दन! देवों के ईश तथा योगेश्वर भी जिनके स्वरूप को कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं, उन आपने यहाँ आज मुझे दर्शन दिए हैं। यह बड़े भाग्य का विषय है एवं प्रसन्नता का द्योतक है, अतः अब शीघ्र ही हमारे पुत्र, स्त्री, धन, संबंधी गृह और देह आदि में आपकी माया से प्राप्त मोह रूप बन्धन को तोड़ दो ॥२७॥

सुबोधिनी—पूर्वमपि वयं भक्ताः परमापाततस्त्वत्स्वरूपाज्ञानात् अद्य तु **नोस्माभिरिह भवान् प्रतीतः**। अतो ज्ञाते कल्पतरौ अभिलषिते विलम्बो न युक्त इति प्रार्थनीय इति भावः। कथमेतावता कालेन न ज्ञातवान् कथमद्यैव ज्ञातवानित्याशङ्क्य हेतुद्वयमाह **दिष्ट्या जनार्दनेति**। भाग्यमद्यैवोन्मुखम्। जनयतीति जना ताम् अर्दयतीति। इदानीमेवाज्ञानं नाशितवान्; प्रसन्नो हि स्वधर्मानाविष्करोति सेवकधर्मांश्चातो भाग्यं मोहनाशं च प्रकाशितवानित्यर्थः। आगमनेन प्रसादो निरूपितः, साधनान्तरं व्यावर्तयति। **योगेश्वरैरपि दुरापगतिरिति** योगवशीकरणादिकं स्वसामर्थ्यम्। न हि नियताः स्वधर्मा अन्येन बोधयितुं शक्यन्ते, दुःखेन प्राप्या **गतिर्यस्येति**। भगवदभिप्रायापरिज्ञानमुक्तम्। स्वाधीने हि मथित्वा वह्निवत्साधनीयम्। तदेकः सङ्घातो भगवता दत्त इति तावन्मात्रे वश्यता भवति नान्यत्रेति सुष्ठूक्तम्। अलौकिकेनापि सामर्थ्येन न भवतीत्याह **सुरेशैरिति** प्रार्थनामाह **छिन्ध्याश्विति**। सुतादिषु **मोहरशनां** छिन्धि, यतस्त्वयैव सम्पादितेत्याह **भवदीयमायामिति**। अन्ते छेदनं वारयति **आश्विति**। अत्यन्तं दृढमूले छिद्यमाने पुनरुद्गमश्छेदके वैमनस्यं च भविष्यतीति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—पहले भी हम भक्त थे, किन्तु आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं था। जिससे पूरे भक्त नहीं थे, नाम मात्र के ही थे। आज तो आपने यहां पधार कर अपने स्वरूप का ज्ञान कराया है, अतः जब कल्पवृक्ष को पहचान जावे तब उससे अपने अभिलषित मनोरथ के मांगने में विलम्ब करना योग्य नहीं है। जिससे प्रार्थना करनी ही योग्य है, यह भाव है। यदि कहो कि इतने दिन नहीं जाना, आज ही कैसे पहचान लिया? जिसके उत्तर में कहते है कि हे जनार्दन! एक तो आप अविद्या को नाश करने वाले प्रभु हैं, जब भी अविद्या नाश करो। दूसरा प्रसन्नता का विषय है कि आज हमारे भाग्य का उदय हुआ हैं। इन दो कारणों से अब आपको पहचाना है। कारण कि जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब अपने धर्मों को प्रकट करते हैं तथा सेवक के धर्मों का भी प्राकट्य कराते हैं। अतः भाग्य का अभ्युदय और अज्ञान का नाश आज हुआ है। वह सर्व कृपा से होता है, वह कृपा आपने पधार कर की है। आप के ज्ञान होने का कृपा के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं है। कारण कि योगी योग से अपनी सामर्थ्य से अर्थात् योग बल से वश करते हैं, किन्तु आप उन योगेश्वरों से जाने भी नहीं जाते हैं तो वश क्या होंगे? आपके जो नियत स्वधर्म है, उनको अन्य साधन नहीं जना सकते हैं। इससे यह बताया है कि भगवान् के अभिप्राय को कोई नहीं समझ सकता है। जैसे काष्ठ के भीतर

अग्नि है जिसको निकालने के लिए काष्ठ को मन्थन करना अपने आधीन है। इस प्रकार भगवान् ने जो यह संघात दिया है, वह अपने आधीन है। जिसके द्वारा दयालु भगवान् को प्रार्थना से वश कर अपने कार्य की सिद्धि की जा सकती है। यह बहुत अच्छा कहा है कि दूसरी तरह अर्थात् इसके सिवाय कार्य सिद्धि नहीं होती है। यदि अलौकिक सामर्थ्य की प्राप्ति की जावे तो उससे भी नहीं होती है। कारण कि अलौकिक सामर्थ्य वाले देवों के ईश भी आप को पा और जान नहीं सकते हैं। यों कहकर अब प्रार्थना करते हैं पुत्र आदि में जो मोह बन्धन है, उसको तोड़ो। यदि कहो कि मैं क्यों तोडूँ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह बन्धन आपने ही अपनी माया द्वारा किया है। अतः उसको केवल तोड़ो ही नहीं, किन्तु जड़ से निकाल दो। केवल ऊपर से काटने से फिर उगेगा तो काटने वाले से वैमनस्य हो जावेगा, इसलिए जड़ से ही निकाल के फेंकने की कृपा कीजिए ॥२७॥

आभास—भगवतोह्ययं भावः शास्त्ररहस्यसिद्धः। योहि यादृशः स तादृश एव कर्तव्यः भक्तिवशादन्यथाकरणेऽयुक्तता भवतीति, भक्तिर्मध्यमाज्ञानम्। यथा शृङ्गार-लीला गोप्यैव तथावतारलीलापि गोप्यैव, तां यः प्रकटीकुर्यात् स नाभिप्रेत इति विपरीतं वदेत्, यथा गोपिकागीतेन गोपिकास्त्यक्ताः तथायमपि लीलार्थमुत्पादितः स्वरूपापरिज्ञानाद् बहिर्मुखतया ज्ञानिनमात्मानं मन्यमानः तत्प्रार्थयते। अतोस्य सर्वाण्येव वचनान्यसबद्धानि अतस्तन्निवारणार्थं भगवान्मोहयितुं प्रवृत्त इत्याह **इत्यर्चित** इति।

आभासार्थ—जो जैसा हो, उसको वैसा ही करना चाहिए भक्ति, प्रेम के वश होकर यदि विशेष की जावे तो वह अयोग्य होगी, इस प्रकार का भगवान् का भाव शास्त्र के रहस्य से सिद्ध है। यों भगवान् का कहना तो 'अहं भक्त पराधीनः' वाक्य के विरुद्ध होगा, अतः अक्रूर ने जो मांगा व देना चाहिए था। जिसके उत्तर में कहते हैं कि अक्रूर की ज्ञान रूप भक्ति होने से मध्यमा भक्ति है। परमाभक्ति नहीं है, जिससे 'अहं भक्त पराधीनः' की उक्ति से विरोध हीं है। वैसे अयोग्य होने से भी नहीं दिया। भगवान् का अगले श्लोक में 'त्वं नो गुरु' से विपरीत शब्द कहने का क्या आशय है? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे शृङ्गार लीला गोप्य है, वैसे ही अवतार लीला भी गोप्य है। उसको प्रकट करना भगवान् को इच्छित नहीं है। इससे भगवान् उसको विपरीत कहते हैं।

जैसे भगवान् ने 'गोपिका गीत' से गोपियों का त्याग इसलिए किया कि उनको अन्तरंग लीला द्वारा आनन्द देना था, अतः बाहर का जो भाव था, उससे मुक्त करने के लिए विप्रयोग का दान किया। इसी प्रकार अक्रूरजी को लीला के लिए प्रकट किया है, किन्तु अब अक्रूर में स्वरूप का अज्ञान होने से बहिर्मुखता है, तथा मैं ज्ञानी हूं यों अपने को समझकर प्रार्थना करते हैं। अतः इसके सर्व वचन असंबद्ध हैं, जिससे भगवान् उन सर्व का निवारण करने के लिए अक्रूर को मोहित करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्यर्चितः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः।**
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः संमोहयन्निव ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि अक्रूर ने इस प्रकार भगवान् का पूजन किया तथा स्तुति भी की। तब भगवान् मन्द-मन्द हँसते हुए अक्रूर को मानो मोहित करने वाले वचनों से कहने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी— पूर्वोक्तेन प्रकारेणार्चितः स सम्यक् स्तुतश्च भक्तश्चायं तथापि भगवानीश्वरः सर्वदुःखहर्ता च भक्तश्चायम्। अत उभयं अभिप्रेत्य सस्मितं प्राह। स्मितो हि मन्दहासः अल्पमेव मोहितवान्। गीर्भिरपि सम्यक् मोहयन्निव जातः। सम्यक्त्वं लीलोपयिकत्वेनान्यथा प्राकृतत्वे लीलामपि त्वजेत् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—प्रथम कहते हुए प्रकार से अक्रूर ने भगवान् का पूजन किया और अच्छे प्रकार से स्तुति भी की, जिससे यह तो निश्चय से जाना गया कि यह 'भक्त' है, तो भी भगवान् ईश्वर होने से सर्व दुःख हर्ता हैं और यह भक्त है। अतः दोनों को पूर्ण रीति से विचार कर मुस्कराते हुए कहने लगे। मुस्क्यान कहते हैं अल्प हास को अर्थात् अक्रूर को थोड़ा ही मोहित किया, फिर वचनों से मानो विशेष मोहित करते हुए कहने लगे। विशेष मोहित करने का आशय है कि उसको लीला से वञ्चित नहीं किया, यदि प्राकृतत्व कर दें तो लीला से भी दूर हो जावे ॥२८॥

आभास—भगवान् लौकिकवैदिकद्विविधशास्त्रप्रकारेण तं मोहयन्नाह **त्वं नो गुरु-रिति त्रिभिः**।

आभासार्थ—भगवान् लौकिक और वैदिक शास्त्रों के अनुसार दोनों प्रकार से अक्रूर को मोह में डालने लगे। जिसका वर्णन 'त्वं नो गुरुः' श्लोक से तीन श्लोको में कहते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।**
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् अक्रूर को कहते हैं कि तुम हमारे हमेशा गुरु, काके, प्रशंसनीय बन्धु हो। हम तो आपकी प्रजा, रक्षा, पालन और दया के योग्य हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—हितोपदेष्टा **गुरुः** प्रायेण धनुषोभ्यासं च कारितवानिति लक्ष्यते। अवश्यं केनचिल्लोकन्यायेन धनुः शिक्षणीयम्। अन्यश्चात्रार्थे गुरुर्नोक्तः। भगवांश्च सत्यमेव वदतीत्यर्थादयं **गुरुः**। **न** इति बलभद्रादीनामभिप्रायेण। बालाभ्यासं कारयति **पितृव्यः** स्पष्टः, चकाराद्धितकारी। न ह्यन्योन्यत्र क्वापि सतः स्वगृहे समानयति। किञ्च। कुले **श्लाघ्यः** महत्त्वेन प्रसिद्धः, पितृव्यादीनां सापत्न्यभाववद् भ्रातृव्यत्वादन्यथात्वमाशङ्क्याह। **बन्धुश्च नित्यदेति**। सर्वदा बन्धुकृत्यमेव करोति। एवं चकारेण सह पञ्चधर्मास्तस्मिन्निरूपिताः। ततोन्यथा पञ्चधर्मान् स्वस्मिन्निरूपयति। **वयं त्विति**। तुशब्दः पूर्वसंबन्धेन तुल्यतां वारयति। गुरुस्तु रक्षकः। भगवता साधनेषु दत्तेष्वपि बुद्धचभावे रक्षाऽसंभवाद्वयं **रक्ष्याः** पितरः पोषकाः पुत्राः **पोष्याः**, चकारान्न वयं

भवद्धितकारिणः किन्तु भवन्त एव, अर्थाद्द्या-पात्रमिवोक्तं भवति। अनुकम्प्याः श्लाघ्या हि नानुकम्प्याः सर्वदा हिताचरणं पतिभिः कर्तव्यम्। वो युष्माकमिति वसुदेवादींस्तानेकीकृत्य निरूपयति। अन्यथा स्तुतित्वं ज्ञायेत ॥२९॥

व्याख्यार्थ—जिससे कल्याण होता हो वैसा उपदेश देवे, वह गुरु है। क्षत्रियों के लिए धनुर्विद्या हितकारी है जिसका उपदेश आपने दिया है, अतः हमारे गुरु है। इस विषय को सिखाने वाला कोई अन्य गुरु नहीं है। भगवान् तो सत्यवक्ता हैं ही, इसलिए आप का गुरु अक्रूर ही है। 'नः' बहुवचन कहने का तात्पर्य यह है कि आप केवल मेरे गुरु नहीं किन्तु बलभद्र आदि सर्व बान्धवों के गुरु हैं, तथा काके(चाचे)हैं। बाल अवस्था में भी आपने शिक्षा दी है, यह सब कोई जानता है। अपनी सन्तति को पढाने का कर्तव्य स्पष्ट है, अर्थात् आप काके (चाचे) होने के साथ गुरु भी हैं, 'च' कहने का तात्पर्य यह है कि आप केवल पढाने और सिखाने वाले गुरु ही नहीं है, किन्तु साथ में हित करने वाले भी हैं। अन्य कोई भी दूसरे को अपने घर नहीं बुलाता है तथा अन्य के घर में कोई जाता भी नहीं है। आप कुल में प्रशसनीय हैं और महान् होने से प्रसिद्ध हैं। लोक में (पितृव्य आदि व्यवहार में) सापत्न्य भाव* की तरह चचरे भाई में भीतर ईर्षा वा शत्रुता होती है,किन्तु आप में वह भाव नहीं है। यह बताने के लिए अक्रूर को 'नित्य बन्धु' कहा है। अर्थात् सदा बन्धुओं का कृत्य, जो हित करने का हो करता है,वह कर रहे हैं। इस प्रकार 'च' के साथ अक्रूर के पांच हितकारी धर्म कह कर अब उससे उल्टे पांच धर्म अपने में भगवान् बताते है। 'तु' शब्द अगले विषय से इसको पृथक करता है, आप गुरु होने से 'रक्षक' अर्थात् रक्षा करने वाले भी हैं और हम रक्षा करने के योग्य हैं। यदि कहा जाय कि अपनी रक्षा आप क्यों नहीं करते हो, जबकि भगवान् ने रक्षा के साधन आपको दिये ही है? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह सत्य है कि भगवान् ने साधन दिये हैं, किन्तु बुद्धि नहीं हैं, अतः साधन होते हुए भी बुद्धि के अभाव से रक्षा नहीं कर सकते है। आप गुरु होने से बुद्धिमान हैं। अतः हमारी रक्षा भी आप ही कर सकते हैं। काका[चाचा]हो, पिता के समान हो, इसलिए पोषण करने वाले हो। हम आपके पुत्र (बच्चे) हैं अतः पालन के योग्य हो हैं। 'च' से यह बताया कि हम आपके हित करने वाले नहीं हो सकते है, किन्तु आप ही हमारे हितकारी बन सकते है। तात्पर्य यह है कि हम ही दया के पात्र हैं। जो बड़े हैं वे श्लाघा के योग्य हैं,वे दया के पात्र नहीं है, किन्तु वे दया पूर्वक हित करने वाले ही होते हैं; कारण कि वे 'पति' अर्थात् पालक (स्वामी)हैं। 'वः' शब्द देकर यह बताया है कि वसुदेव आदि, जो आप बड़े हैं उनकी हम 'प्रजा' हैं। यदि ऐसा सबके लिए न कहे तो यह कथन केवल अक्रूर की स्तुति मात्र ही जानी जावे ॥२९॥

आभास—एवं लौकिकोत्कर्षमुक्त्वा प्रवृत्तिप्रकारेण वैदिकोत्कर्षमाह भवद्विधा इति।

आभासार्थ—यो लौकिक उत्कर्ष कह कर अब 'भवद्विधा' श्लोक से प्रवृत्ति प्रकारानुसार वैदिक उत्कर्ष वर्णन करते हैं।

---

* सौतेले विचार

श्लोक—**भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः ।**
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३०॥

श्लोकार्थ—आपके समान, महाभाग्य वाले, अतिशय पूजनीयों की सेवा, उन मानवों को अवश्य करनी चाहिए, जो अपना कल्याण चाहते हैं। देवता तो स्वार्थी होते हैं, किन्तु साधु पुरुष परोपकारी होते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—ये हि सर्वप्रकारेणोत्कृष्टास्ते सर्वैरुपास्याः, **भवद्विधा** इति तेषामुत्कर्षो निरूपितो यादृशास्तादृशास्तत्रापि **महाभागाः** परमभाग्ययुक्ता इति तेषां संपत्तिर्निरूपिता। तत्राप्यर्हसत्तमा ये उपकारकर्तारः समृद्धाः सर्वे संप्रत्तिपन्नास्ते सर्वैरुपास्या इत्यर्थः। तत्रापि श्रेयस्कामैः। अनेन स्वार्थमेवोपासनमुक्तं दृष्टार्थत्वं च निरूपितम्। नृभिरिति। मनुष्याधिकारो निरूपितः। तेनास्माकमिदमावश्यकमित्यर्थः। ननु शास्त्रे देवा एव सेव्या न त्वन्य इति चेत्तत्राह **देवास्तु स्वार्थाः** स्वार्थं ज्ञात्वैव हितं कुर्वन्ति। **साधवस्तु नैवम्**। अतो देवभजनापेक्षयापि साधुभजनमेवोत्तमम्। ॥३०॥

व्याख्यार्थ—लोक में सर्व मनुष्य उनकी उपासना करते हैं। जो सर्व प्रकार से श्रेष्ठ होते हैं, वे आप जैसे होते हैं यों कहकर उनका उत्कर्ष निरूपण किया। वे जैसे कैसे भी हों, किन्तु आप उनमें भी महान् भाग्य वाले हैं। यों कहकर उनकी 'अक्रूरजी की' सम्पत्ति बताई है। तात्पर्य यह है कि जो उपकार करने वाले तथा बहुत सम्पदावाले एवं अत्यन्त योग्य होते हैं, उनकी ही सर्व सेवा करते हैं। उन सेवा करने वालों के गुणों को कहते हैं कि जिनको अपने कल्याण की इच्छा होती है, इससे स्वार्थ के लिए ही उपासना कही और यह भी बताया है कि जिसका फल प्रत्यक्ष है। इस प्रकार की सेवा का अधिकार मनुष्यों को ही है। यह 'नृभिः' शब्द से प्रकट किया है। इससे हमको यह अवश्य करनी चाहिए। यदि कहो कि शास्त्र में देवता ही सेव्य कहे हैं, न कि कोई दूसरा सेव्य कहा है। जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'देवाः स्वार्थाः' देवता स्वार्थी हैं। स्वार्थ जान कर ही हित करते हैं। साधु यों नहीं करते हैं अर्थात् साधु अपना स्वार्थ जानकर हित नहीं करते हैं वे बिना स्वार्थ ही हित करते हैं, अतः देवों से भी साधुओं की सेवा करना उत्तम है ॥३०॥

आभास— किञ्च। निवृत्तिमार्गे तीर्थानि सेव्यानि, तदपेक्षयाप्येत एव सेव्या इत्याह **न ह्यम्मयानि तीर्थानीति**।

आभासार्थ—निवृत्ति मार्ग में तीर्थों का सेवन करना कहा है, किन्तु उनसे भी साधुओं की सेवा विशेष है। जिसका वर्णन 'न ह्यम्मयानि' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।**
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३१॥

श्लोकार्थ—तीर्थ केवल जल रूप नहीं है, देवता, पाषाण और मृत्तिका रूप नहीं है, वे बहुत समय सेवा करने के अनन्तर फल देते हैं। साधु पुरुष तो दर्शन मात्र से ही फल देते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—तीर्थेषु स्नात्वा तदधिष्ठातृदेवतापूजनं कर्तव्यं, तदा तीर्थं कृतं भवति। तदुभयमप्यप्रयोजकमित्याह **न ह्यम्मयानीति**। तीर्थशब्देन जलाभिमानिनी देवतोच्यते। सा चिन्मयी, देवता च चिदानन्दमयीत्येव शास्त्रमर्यादा। **अम्मयानि** तु तीर्थानि न भवन्ति, **देवा** अपि **मृच्छिलामया** भवन्ति। स्थानस्य देवतात्वपक्षे मृण्मयत्वं प्रतिमाया देवतात्वपक्षे तु शिलामयत्वमुभयमपि लोकप्रसिद्धं निवार्यते। शास्त्रप्रामाण्यात्। अन्यथा शास्त्रमनुवादकं सदप्रमाणमेव भवेत्। **किञ्च**। अत एव पवित्र्यमपि तत्कृतमुत्तमं न भवति। यतस्ते **उरुकालेन पुनन्ति** महता कालेन विधियुक्तानुसारेण तीर्थसेवायां चित्तशुद्धेरुक्तत्वात्। **साधवस्तु** ज्ञानोपदेष्टारः भक्तिप्रवर्तका वा, **दर्शनमात्रेणैव** ज्ञानभक्त्योः साधितत्वात् फलतोप्युत्कर्षः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—तीर्थ किए कब समझना चाहिए जब तीर्थों में स्नान कर उनके अधिष्ठाता आधिदैविक स्वरूप की सेवा की जाती है, कारण कि केवल जल तीर्थ नहीं है, किन्तु जल के अभिमानी देवता तीर्थ हैं, वह देवता चैतन्य हैं, देवता तो चिदानन्दमयी होते हैं यह ही शास्त्रों की मर्यादा है, इसी प्रकार मिट्टी वा पाषाण देवता नहीं है लोक में मन्दिर जो मिट्टी आदि से बने हुए है, और मूर्ति जो पाषाण आदि से बनी हुई हैं उनको देवता रूप से प्रसिद्धि है उसका निवारण करते हैं कि वे ही देवता हैं, कारण कि शास्त्र में वैसा प्रमाण है कि वे देवता नहीं हैं यदि शास्त्र को न माना जावेगा तो शास्त्र केवल अनुवाद करने वाला होकर अप्रमाण हो जावेगा, क्योंकि शास्त्र में देव तथा तीर्थों की सेवा का उपदेश है और उससे हुई पवित्रता भी उत्तम मानी जावेगी, जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे बहुत काल तक शास्त्र को विधि के अनुसार तीर्थ की सेवा से चित्त की शुद्धि होती है, तीर्थ से जल मात्र नहीं किन्तु उसमें स्थित चिदानन्दमयी आधिदैविक मूर्ति समझनी उसी तरह मूर्ति में भी स्थित आधिदैविक स्वरूप समझना चाहिए उनके सिवाय शेष अप्रयोजक है, साधु भगवद्भक्त तो ज्ञान के उपदेशक और भक्ति के प्रवर्तक होते हैं जिससे उनके दर्शन मात्र से ही ज्ञान और भक्ति सिद्ध हो जाती है इसलिए फल से भी भक्त का उत्कर्ष कहा है ॥३१॥

आभास—एवं स्तुत्वा संमोहमुत्पाद्य स्वाभिलषितं करिष्यतीति अभिज्ञाय किञ्चिदाज्ञापयति **स भवानिति** त्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार स्तुति करके अक्रूरजी को मोहित कर अपनी इच्छा के अनुकूल करेंगे, यों जानकर 'स भवान्' से लेकर तीन श्लोकों में कुछ आज्ञा करते हैं।

श्लोक—**स भवान्सुहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया।**
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम् ॥३२॥

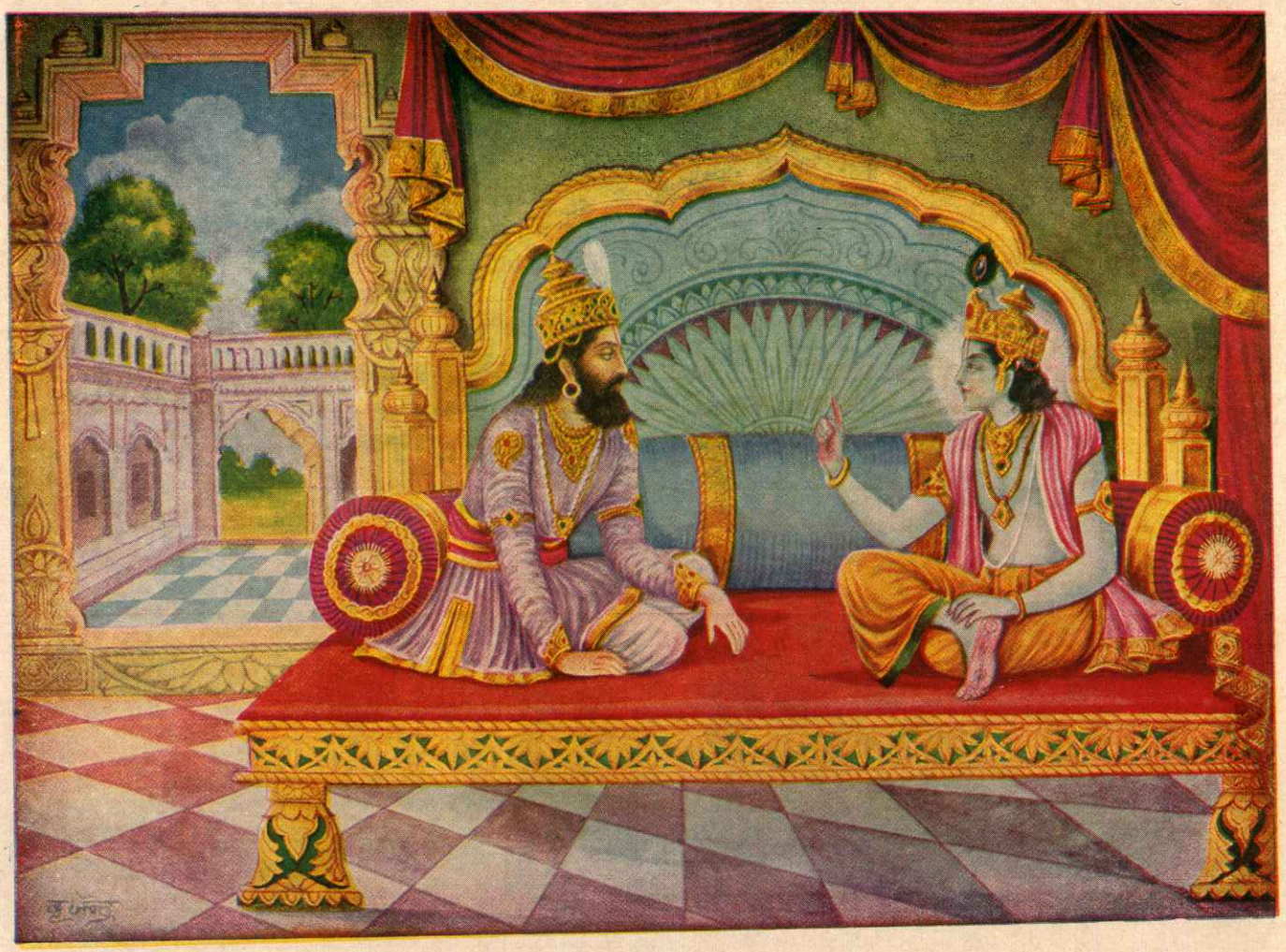

अक्रूरजीको हस्तिनापुर भेजना

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्लोकार्थ—वे आप हम बान्धवों का श्रेय करने वाले हैं, अतः पाण्डवों के कल्याण करने की इच्छा से उनकी अब क्या स्थिति है, उसको जानने के लिए आप हस्तिनापुर पधारें ॥३२॥

सुबोधिनी—तेषु त्रिविधं हि कार्यं कर्तव्यं, मोक्षः संपादनीयः, भक्तिर्वा, पाण्डवेषु राज्यं च देयम्, शत्रवश्च मारणीया इति। स सर्वथोपकारकर्ता भवान्। तत्रापि सुहृदां भगिनीभागिनेयानाम्। वै निश्चयेनेति तेऽवश्यं पालनीया इति। पुरुषस्य हि पितृवर्गो वा मातृवर्गो वा रक्षको भवति। तत्र पितृवर्गः न तेषां रक्षकः पितुर्निवृत्तत्वादन्येषां प्रतिकूलत्वादिति वक्ष्यति। अत एव वयमेव सुहृदः अस्माकं मध्ये त्वं च श्रेयान्। अतः श्रेयश्चिकीर्षया हिताचरणार्थं पाण्डवानामादौ जिज्ञासार्थं गजेन समानाह्वयं हस्तिना राज्ञा निर्मितं हस्तिनापुरं गच्छ। अनेन प्रसिद्धया तत्र गमनं न निन्दितं भवति। गुप्तस्थानेषु न तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार के कार्य करने हैं:— १–मोक्ष या भक्ति देनी है, २–पाण्डवों को राज्य देना है, ३–शत्रुओं को मारना है। आप सर्व प्रकार उपकार करने वाले हैं, उसमें भी ये तो सुहृद हैं अर्थात् सम्बन्धी भाई तथा बहन आदि हैं। निश्चयपूर्वक इनकी पालना करनी योग्य है। पुरुष की रक्षा पितृवर्ग करता है या मातृवर्ग करता है। इसमें इनका पितृवर्ग रक्षक नहीं है, कारण कि पिता के परलोक होने के अनन्तर चाचा (काका) आदि अनुकूल नहीं रहे हैं, किन्तु शत्रु जैसे हो गए हैं। शेष हम ही उनके सुहृद रहे हैं, जिनमें आप ही उत्तम हैं। अतः उनके कल्याण करने के लिए एवं उनकी स्थिति को मालूम करने के लिए आप हस्ती नाम वाले राजा के बनाए हुए हस्तिनापुर में पधारो। इससे आप छिपकर नहीं जाओ, प्रसिद्ध रीति से जाओ। यों जाना निन्दित नहीं होगा, वे अब गुप्त स्थानों में नहीं रहते हैं ॥३२॥

आभास—का जिज्ञासेत्याकाङ्क्षायामाह पितर्युपरत इति।

आभासार्थ—वहाँ जाकर उनकी किस प्रकार की स्थिति की सूचना लेनी है, वह 'पितर्युपरते' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—पितर्युपरते बालाः सह मात्रातिदुःखिताः।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥३३॥

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥३४॥

श्लोकार्थ—पिता के परलोकगामी हो जाने के अनन्तर सब बालक तथा उनकी माता बहुत दुःखी होने लगे, अतः उनको राजा ने अपने नगर में बुला लिया है और

वे वहाँ ही रहते हैं। सुना है कि अम्बिका का पुत्र महाराजा धृतराष्ट्र अपने भतीजों का, पुत्रों के समान पालन नहीं करता है। कारण कि वह एक तो बुद्धि से दीन है और दूसरा वह अपने नीच पुत्र के वश में है और स्वयं दृष्टिहीन भी है अर्थात् आँखों से तो देख नहीं सकता है, किन्तु हृदय से विचार भी नही कर सकता है ॥३३-३४॥

सुबोधिनी—पाण्डौ संस्थिते बाला एव, ते च बहवश्च **मात्रा सह** स्थिता इति स्तनन्धयप्राया इत्यवस्थाया दयापात्रत्वमुक्तम्। **अतिदुःखिता** इति दयायाः साधारणो हेतुः, तदीयानां पालकत्वमस्ति न वेति वचनार्थं परिग्रहो निरूप्यते **आनीताः स्वपुरमिति**। ते चेच्छत्रवः सुतरामेवानर्थपर्यवसायित्वं स्वस्थाने स्थापिता इति। तत्रापि **राज्ञा**। अनेन तेषां राजत्वाभावो निरूपितः। ॥३३॥

किञ्च। न केवलं ते वसन्ते किन्तु उपद्रुता इत्यपि शङ्का। यतोयम**म्बिकापुत्रः** तेषु प्रसिद्धेष्वपि निर्दुष्टेष्वपि **भ्रातृपुत्रेषु** विनीतेषु **समो न वर्तते**, इति तत्र हेतुः **दीना धीर्यस्येति**। बुद्धिस्तु दरिद्रा, दरिद्रो हि दुर्गतः सर्वमेव कर्तुं शक्तः निषिद्धम्। विहिते त्वशक्तः इति तस्य सहजो दोष उक्तः। आगन्तुकं दोषमाह। **दुष्पुत्रवशग** इति। दुष्टः सहजः कलित्वात्। दुर्योधनो हि कलेरवतार इति। अत एव कालस्य प्राबल्यात् तद्वशगः, पुत्रत्वान् मोहेनापि तद्वशगो जातः। स्वतो विचारसामर्थ्याभावायाह। **अन्धदृगिति**। स हि जात्यन्धः शब्देनैव व्यवहरति। प्रियमेव शब्दं सर्वो मन्यते, पुत्रशब्दश्च प्रियः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—पाण्डु के परलोक जाते समय ये अत्यन्त छोटे बालक थे। वे बहुत थे अर्थात् पाँच थे, वे माता के साथ रहते थे। छोटे कहने से यह बताया है कि वे दया करने के योग्य हैं। वे बहुत दुःखी थे, यह दया का साधारण हेतु कहा है। उनका पालन करने वाले हैं या नहीं, इसलिए उनका परिवार बताने के लिए कहा है कि अपने नगर में जिन्होंने मँगवाया वह कुटुम्ब है, किन्तु वे अपने स्थान में स्थापित करने वाले यदि शत्रु बन गए हैं तो अतिशय अनर्थ होगा, इसमें भी मँगवाकर रखने वाले राजा हैं, जिसका आशय है कि अब इनका राज्य नहीं है ॥३३॥

वे वहाँ साधारण अवस्था में नहीं रहते हैं, किन्तु उनसे उपद्रव होने की शङ्का भी की जाती है, जिससे वे दुःखी हैं, यह भी शङ्का होती है। कारण कि यह अम्बिका का पुत्र उन प्रसिद्ध निर्दोष विनय वाले भतीजों से समानता का व्यवहार नहीं करता है; क्योंकि उसमें एक सहज दोष यह है कि उसकी बुद्धि दरिद्री अर्थात् संकुचित है। ऐसी बुद्धिवाला जो न करने योग्य कार्य हैं, वे भी स्वार्थ के लिए करता है, किन्तु करने योग्य कार्य के करने की उसमें शक्ति नहीं होती है। स्वाभाविक दोष कहकर अब दूसरे के संसर्ग से आनेवाला दोष कहते हैं। 'दुष्पुत्रवशगः' उसका पुत्र दुर्योधन कलि का अवतार होने से स्वभाव से दुष्ट है, इसलिए ही कलिकाल के प्रभाव से उसके अधीन है तथा पुत्र है, इस पुत्र मोह के कारण भी उसके वश हो गया है। स्वयं धृतराष्ट्र में तो विचार करने की शक्ति ही नहीं है, कारण कि 'अन्धदृक्' वह जाति से अन्धा है, सर्व कार्य बोल-चाल-सुनकर ही करता है। सब कोई उस शब्द को मानता है, जो शब्द प्यारा लगता है। लोक में पुत्र के वचन ही प्यारे लगते हैं, अतः जैसा पुत्र कहता है, वैसा करता है ॥३४॥

आभास—तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह **गच्छ जानीहीति** ।

आभासार्थ– तब क्या करना चाहिए ? इस पर 'गच्छ जानीहि' श्लोक में कहते हैं कि आप वहाँ जाकर सारा समाचार जान लो ।

श्लोक—गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ।
विज्ञाय तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—आप वहाँ पधारो और देखो कि अब वे सुखी हैं कि दुःखी हैं । उसको जान लेने के बाद जैसे बान्धवों को सुख प्राप्त होगा, वैसा प्रयत्न हम लोग करेंगे ॥३५॥

सुबोधिनी—एकवचनेन सेनाद्यभावः सूचितः। युद्धार्थं न गन्तव्यं किन्त्वधुना तेषां साधु मङ्गलमस्ति असाध्वमङ्गलं वा अनिष्टमस्ति । वेत्यनादरे नोभयं वा । ज्ञानस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह **विज्ञायेति । तदनुरूपं विधास्यामः । प्रकारजिज्ञासायामाह यथा शमिति । सुहृदां** बन्धूनां येनैव प्रकारेण शं भवेत् स एव प्रकारः कर्तव्य इत्येतत्सर्वं जिज्ञासानन्तरं कर्तव्यमन्यथा कृतं न सुखपर्यवसायि भवतीति । अतो जिज्ञासाथमेव गच्छ न त्वन्यत्किञ्चित्कर्तव्यमिति भावः । मोहितस्यायं गुणः यदधिकमपि करिष्यतीति । अत एव धृतराष्ट्रोपि तेन निर्भर्त्सितः ॥३५॥

तात्पर्यार्थ—'गच्छ' यह एक वचन इसलिए कहा है कि अभी तो आप अकेले पधारो; क्योंकि अभी युद्ध के लिए नहीं जाना है, केवल सूचना लानी है कि वे सुखी हैं या दुःखी हैं अथवा सामान्य परिस्थिति वाले हैं ? जानने का उपयोग क्या होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि पूरी तरह जानने के अनन्तर उसके अनुरूप कार्य करेंगे, क्या करोगे ? इस पर कहते हैं कि जिस प्रकार बान्धवों का कल्याण होगा, वह प्रकार करेंगे, यह सर्व जानने के अनन्तर करना है; क्योंकि जानने से प्रथम करने से वह कार्य सुखदायी नहीं होता है, अतः जानने के लिए आप अकेले पधारो, अर्थात् इसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करना चाहिए। जो मोहित है, उसमें यह गुण होता है कि कहने से भी अधिक कर देता है, इसलिए ही धृतराष्ट्र की भर्त्सना की गई है ॥३५॥

आभास—एतावतैव कार्यं भविष्यतीत्यभिज्ञाय भगवान् स्वगृहं गत इत्याह **इत्यक्रूरं समादिश्येति** ।

आभासार्थ—इतना कहने से कार्य हो जावेगा, यों जानकर भगवान् अपने घर को पधारे, जिसका वर्णन 'इत्क्रूर' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः ।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ॥३६॥

श्लोकार्थ—भगवान्, हरि ईश्वर श्रीकृष्ण इस प्रकार अक्रूर को आज्ञा देकर सङ्कर्षण तथा उद्धव के साथ अपने घर पधारे ॥३६॥

सुबोधिनी—आज्ञासिद्धौ भगवत्त्वं हेतुः। आज्ञापने हरित्वम्, स्वतः अगमने ईश्वरत्वम्, स्तुत्वा स्वापेक्षयाप्याधिक्यमुपपाद्य दानीं नीचसेवककार्यं दूतत्वं च कारितवानितीश्वरचर्या। सङ्कर्षणोद्धवयोरन्यतरस्य वा गमनं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **सङ्कर्षणोद्धवाभ्यामिति**। निर्गमन सहभावः, स्वभवनगमने तु नायं निर्बन्ध इति विज्ञापयितुं **तत** इत्युक्तम्। तस्मात् स्थानात् तदनन्तरं च कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं स्वस्य **भवनं ययौ**। प्रापणकथनेन मध्येपि कार्यान्तरं व्याव- ॥३६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे चतुश्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—यहाँ श्रीकृष्ण के जो भगवान् हरि और ईश्वर ये तीन विशेषण दिए हैं, उस एक एक विशेषण का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि आप भगवान् हैं, इसलिए अक्रूर आपकी आज्ञा मानकर अवश्य जाकर सूचना ले आवेगा। अक्रूर बड़े हैं, तो भी आपने आज्ञा दी, कारण कि आप 'हरि' हैं। आप स्वयं क्यों नहीं पधारे? इसलिए कि आप ईश्वर हैं, सेवकों के होते हुए स्वामी कैसे पधारें? अब तो अक्रूर की स्तुति कर अपने से भी उसमें बिशेषता प्रकट कर उससे सेवकपन का नीच कार्य और दूतपन का कार्य कराया। यह ईश्वर की सेवा है, सङ्कर्षण या उद्धव दोनों में से कोई एक उसके साथ जावेगा? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि आप इन दोनों के साथ अक्रूर के घर से पधारे, फिर आप अकेले अपने घर को पधारे, बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया, तो सीधे सब अपने-अपने घर गए ॥३६॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

टिप्पणी भक्त शिरोमणि श्री सूरदासजी द्वारा इस अध्याय में वर्णन की हुई लीला का पद अगले अध्याय के अन्त में अवलोकन करें।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वल्लभतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ४९वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४६वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

"सप्तम् अध्याय"

अक्रूरजी का हस्तिनापुर जाना

कारिका—षट्चत्वारिंशकेऽध्याये सात्त्विकानां निरूप्यते ।
सान्त्वनं चान्यमुखतो निरोधो ह्यधिकारतः ॥१॥
भगवत्प्रेषितोक्रूरः कृत्वा सान्त्वनमग्रतः ।
ज्ञानेन तत्प्रतीकारं मत्वा तच्चोक्तवान् स्वयम् ॥२॥
पाण्डवैर्ज्ञापिताशेषो विचारे कुशलो यतः ।
अतः स्थित्वा गतिं बुध्वा स्वशक्तिं ज्ञातवांस्ततः ॥३॥
अन्यथा भगवत्कार्यं निरोधो न भविष्यति ॥३½॥

कारिकार्थ—इस ४६वें अध्याय में भगवान् ने अक्रूर द्वारा सात्त्विक भक्त पाँडवों को सान्त्वना कराई। निरोध तो अधिकार के अनुसार होता है, भगवान् के भेजे हुए अक्रूर ने समझा कि पाण्डवों के सान्त्वनार्थ ज्ञान ही समर्थ है। वह सम्पूर्ण ज्ञान उन को अक्रूर ने ही कहा है; कारण कि अक्रूरजी विचार करने में कुशल हैं, अतः वहाँ तीन मास रहकर पाण्डवों से सब समाचार विदित किए। जिसमें पृथा और विदुर ने भी सहायता की है। जिससे इसके जानने में अक्रूरजी ने अपने को अशक्त नहीं समझा। शेष निरोध का कार्य भगवान् के लिए रखा, कारण कि निरोध अधिकार के अनुसार होता है। इसलिए अक्रूरजी ने निरोध और पाण्डवों को छुड़ाना; ये दोनों कार्य नहीं किए। यदि करते तो भगवान् निरोधादि कार्य कैसे करते ॥३३½॥

आभास—प्रथमं भगवदुक्तं कृतवानित्याह **स गत्वेति** षड्भिः।

आभासार्थ—अक्रूरजी ने जाकर पहले जो कार्य करने के लिए भगवान् ने कहा था, वह किया। जिसका वर्णन 'संगत्वा' श्लोक से ६ श्लोकों में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितम्।**
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वे (अक्रूरजी) हस्तिनापुर गए, जो पुरुवंशीय राजाओं के बनाए हुए मन्दिर आदि की शोभा से शोभायमान है, वहाँ धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर और पृथा को देखा ॥१॥

सुबोधिनी—**सोऽक्रूरः** स्वतो भगवदाज्ञया च विशिष्टो **हास्तिनपुरं** हस्तिन्शब्दादपि रूढत्वाभावाय तेन निर्वृत्तमिति ज्ञापनार्थमुक्तम्। यद्यप्यधर्मबहुले न गन्तव्यं तथापि स्वभावत उत्तममित्याह **पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितमिति**। पौरवेन्द्राणां श्रियाऽङ्कितमिति, मुख्यत्वात् प्रथमतो राजदर्शनम्। अम्बिकायाः पुत्रो धृतराष्ट्रः, धृतं राष्ट्रं येनेति व्युत्पत्तिः संभविष्यतीति तन्निषेधार्थं मातृनाम्ना व्यपदिष्टः। राजस्थान एव **भीष्मं** च दृष्टवान्, **विदुरं पृथामिति** ज्ञापको ज्ञाप्यश्च निरूपितः।१।

व्याख्यार्थ—वे अक्रूरजी अपने आप और भगवान् की आज्ञा पाकर हस्तिनापुर गए। श्लोक में हास्तिनपुरं' कहने का आशय यह है कि यह नाम रूढ़ि नहीं, किन्तु राजा ने बनवाया है। इसलिए इसका नाम हस्तिनापुर पड़ा है। यद्यपि जहां बहुत अधर्म हो, वहां नहीं जाना चाहिए, किन्तु यह पुरुवंश के राजाओं की श्री से शोभित है, अतः जाने में कुछ अड़चन नहीं है। नीति के नियमानुसार प्रथम राजा का दर्शन करना चाहिए, अतः प्रथम उसका दर्शन किया। यहां व्यासजी ने राजा का नाम धृतराष्ट्र न देकर अम्बिका पुत्र' कहा, जिसका आशय यह है कि नाम की व्युत्पत्ति धृतं-राष्ट्रं येन'

के अनुकूल अर्थ वाला कार्य न कर सकेगा । राज सभा में ही भीष्म को देखा, बाद में विदुर तथा पृथा को देखा । इनमें एक बताने वाला;एक बताने के योग्य,निरूपित किया है ॥१॥

श्लोक—**सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम् ।**
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान्सुहृदोपरान् ॥२॥

श्लोकार्थ—वहाँ बाह्लीक, भूरिश्रवा आदि, भारद्वाज, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डव और भी उनके मित्र देखे ॥२॥

सुबोधिनी—**सहपुत्रमिति** । **बाह्लीकः** शन्तनोर्भ्राता । तत्पुत्रा भूरिश्रवादयः । **भारद्वाजो** द्रोणः । **गौतमः** कृपः । कर्णदुर्योधनाश्वत्थामानः एते महारथाः गणिताः षट् । सहपुत्रत्वेन सहाया अपि गणिताः । ततोऽग्रे तेषां निवारणसमर्था इति ज्ञापयितुं पाण्डवा गणिताः । लोकन्यायेन सर्वबन्धुप्रियकृदिति ज्ञापयितुं **सुहृदोऽपरांश्च** दृष्टवानित्युक्तम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—बाह्लीक शन्तनु के भ्राता, उनके पुत्र भूरिश्रवा आदि भरद्वाज के पुत्र द्रोण)गौतम, कृप, कर्ण अश्वत्थामा, दूर्योधन ये छ महारथी हैं, ये पुत्रों के साथ कहने से उनके सहायक भी वहां थे । उसके बाद आगे उनको हराने में समर्थ बताने के लिए पाण्डवों को भी गिनाया है तथा लोक न्याय से सर्व बान्धवों का प्रिय करने वाले सुहृद मित्र भी वहां देखे ॥२॥

श्लोक—**यथावदुपसंगम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः ।**
संपृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ॥३॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी सब बान्धवों से यथायोग्य मिले । उन्होंने अक्रूरजी से मथुरा के बान्धवों के कुशल समाचार पूछे । अक्रूरजी ने भी सब की सब तरह की कुशल पूछी ॥३॥

सुबोधिनी—**यथावदिति** । ततो यथायोग्यं नमस्कारादिप्रकारेणोपगमनम् । अस्यापि माहात्म्यं मातृपुरस्सरमाह तैः मथुरास्थवार्तां सम्यक् **पृष्टः** सन् **स्वयं** च तेषामव्ययमपृच्छत् । **चकारेण** वार्ता समागतैव । **अव्ययमिति** । व्ययोत्र कस्यचित्परित्यागः । अव्ययं यथा भवति तथा सर्वानेव पृष्टवान् ॥३॥

व्याख्यार्थ—अक्रूर उनको नमस्कार आदि करते हुए उनसे मिले । इसका माहात्म्य भी माता के नाम से प्रकट किया है । उन्होंने अक्रूरजी से मथुरा में स्थित बान्धवों के कुशल समाचार अच्छी प्रकार पूछे । अनन्तर आपने भी सब प्रकार के सबके कुशल वृत्तान्त पूछ लिए । कोई भी बात छोड़ी नहीं, इसलिए 'अव्यय' पद दिया है ॥३॥

आभास—आपाततो वृत्तान्तज्ञानं न भवतीति स्वतो ज्ञानार्थं स्थितवान्। वर्तमानस्यैव ज्ञानं भवतीति जातं श्रुतवान्। भविष्यज्ञानार्थं प्रबोधितवानिति संग्रहस्तत्र प्रथमं स्थितिमाह **उवास कतीति**।

आभासार्थ—बाहरी तौर से पूर्ण रीति से वृत्तान्त का ज्ञान नहीं होता है, अतः आप पूर्ण समाचार विदित करने के लिए वहाँ ठहर गए। वर्तमान समय का ज्ञान तो सुनने से जान लिया, किन्तु भविष्य में क्या होने वाला है? जिसको जानने के लिए अन्य से पूछकर निश्चय करना था, जिसका वर्णन 'उवास कतिचित्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—उवास कतिचिन्मासान्राज्ञो वृत्तविवित्सया।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः ॥४॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी, दुष्ट प्रजावाले, अल्प बलवाले, खलों के कहने अनुसार चलने वाले राजा का वृत्तान्त जानने के लिए कुछ मास वहाँ ठहर गए ॥४॥

सुबोधिनी—**कतिचिन्मासानिति** निरन्तरं यावद्वृत्तपरिज्ञानं भवति, मासत्रयं स्थितवानिति लक्ष्यते। मासे हि नूतना दिवसाऽऽवर्तन्ते। त्रयो हि पदार्था ज्ञातव्याः धृतराष्ट्रस्थाः स्वतो दोषाः, पुत्रादिमोहकृता दोषाः, संसर्गदोषाश्चेति। एते नैमित्तिका अपि भवन्तीति मासपर्यन्तं निरन्तरपरिज्ञानार्थं स्थितिः, निरन्तरं परिज्ञाने त्रयाणां संश्लेषेण गुणदोषव्यवस्थापकानां प्रत्येकं व्यभिचारात् परिज्ञानं न भवतीति, एकैकस्य परिज्ञानार्थं तदीयगुणदोषनिर्धारार्थं मासपर्यन्तं स्थितिः। एवं दोषत्रये मासत्रयमिति, शीघ्रापरिज्ञाने राजत्वं हेतुः। राजमन्त्रणं गूढं भवतीति, दोषानाह दुष्टाः प्रजाः पुत्रा यस्य। अल्पः सारो विवेकधैर्यादिकं यस्य। खलाः शकुनिप्रभृतयः। तेषां छन्दो वृत्तं तदनुवर्तनशीलश्च, तत्कृतं समीचीनं मन्यत इत्यर्थः ॥४॥

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी को सिलसिले वार जब तक राजा को क्या करना है, इस वृत्तान्त का पूर्ण ज्ञान न हो जावे, तब तक वहाँ रहना पड़ा। समझा जाता है कि अक्रूरजी वहाँ तीन मास इस कार्य सिद्धि के लिए रहे। प्रत्येक मास में वे ही तिथियाँ फिर-फिर कर आती हैं। यहाँ रहकर अक्रूरजी को धृतराष्ट्र के तीन पदार्थों का ज्ञान करना था— (१) धृतराष्ट्र स्वयं में जो दोष हैं, (२) पुत्र आदि के मोह के कारण जो दोष उत्पन्न हैं, (३) दुःसङ्ग के संसर्ग से जो दोष आए हैं; ये दोष निमित्त से भी होते हैं। अतः एक-एक दोष को जानने के लिए एक-एक मास रहना पड़ा था। इतना विशेष समय इसलिए लगा कि राजाओं की जो मन्त्रणा गुप्त होती है, उसका ज्ञान पाना सरल कार्य नहीं है। एक-एक गुण और दोष का ज्ञान करने के अनन्तर उसका निर्णय कर उसके परिणाम का निश्चय करना इसमें समय की आवश्यकता रहती है। राजा में दोष इसलिए भी उत्पन्न हुए हैं क्यों कि उनकी प्रजा और सन्तान दुष्ट थी। धैर्य आदि बल भी उसमें नहीं था और शकुनि आदि खलों का ससर्ग भी था, इत्यादि कारणों से राजा धृतराष्ट्र का स्वभाव भी उनके कहने के अनुसार हो गया था। जिससे वे दुष्ट प्रजा, पुत्र और खल-मित्र जो कुछ कहते, उसको ही श्रेष्ठ और हितकर समझता था ॥४॥

आभास—भूतार्थपरिज्ञानमाह **तेज इति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—जो हो गया है, उसकी पहिचान का वर्णन 'तेज' से दो श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् ।
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥५॥

श्लोकार्थ—पाण्डवों में जो तेज, सामर्थ्य, बल, पराक्रम, विनय आदि सद्गुण थे और उनमें प्रजा का प्रेम भी था। ईर्षा के कारण दुर्योधन आदि इसलिए उनको सहन नहीं करते हैं, यह अक्रूरजी ने समझ लिया ॥५॥

सुबोधिनी—**तेजः** कान्तिः, **ओज** इन्द्रियशक्तिः, **बलं** देहस्य, **वीर्य** पराक्रमः, वीररसाभिनिवेशकृत एते क्षत्रियोत्कृष्टत्वप्रतिपादकधर्माः। **सद्गुणानाह**। **प्रश्रयादीनिति**। विनयादयो हि सात्त्विकधर्मास्तेन स्वभावतस्ते जीवा उद्धर्तव्या इत्युक्तम्। द्वेषे हेत्वन्तरमप्याह **पार्थेषु** युधिष्ठिरादिषु **प्रजानुरागं** च, त्रेधा हि मात्सर्यमुत्पन्नं त्रिदोषात्मकं सदचिकित्स्यमिति तत्कृतं फलमाह। **न सहद्भिश्चिकीर्षितमिति**। सर्वथा मारणम् ।५।

व्याख्यार्थ—पाण्डवों के ललाट में जो चमक थी, उनके इन्द्रियों की शक्ति, शरीर का बल, पराक्रम; ये सब धर्म क्षत्रिय की बड़ाई दिखाने वाले है। इन धर्मों के कारण ही क्षत्रियों में वीर रस जागृत होता है। पाण्डवों के सद्गुणों का वर्णन करते हैं कि पाण्डवों में विनय आदि गुण हैं, जिससे मालूम होता है कि ये सतोगुणी है। इससे यह बताया कि इनका उद्धार करना तो भगवान् का स्वभाव ही है। धृतराष्ट्र के पुत्र आदि इनसे जो बैर करते है, जिसका कारण बताते हैं कि युधिष्ठर आदि से तो प्रजा प्रेम करती है, उनसे नहीं करती है। इस प्रकार तीन तरह मत्सरता आने से वे सन्निपात के रोगी के समान त्रिदोषग्रस्त हो जाने से उपायों से छूट सके जैसे नहीं रहे, जिसका फल सब प्रकार से नाश ही है ॥५॥

श्लोक—कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम् ।
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥६॥

श्लोकार्थ—इस ईर्षा से धृतराष्ट्र के पुत्र आदि ने इनको विष दान आदि देकर जो-जो पीड़ाएँ दी, वे सब पृथा और विदुर ने अक्रूर को बता दिए ॥६॥

सुबोधिनी—कृतं तु **गरदानं**, भीमाय विषमोदकाः प्रदत्ता इति, स च पाताले **गत्वा** समागत इति च। आदिशब्देन बहुधा भीममारणार्थमुद्यमोपि प्रदर्शितः। **अपेशलमसुन्दरं** कदाचिदपमानादिकमपि **कृतमिति** वृत्तान्तसहितमेतत्सर्वं **पृथा विदुरश्च** स्वकीयसाधारणश्च सर्वमेवाचख्यौ। एकेन स्वरूपज्ञानमपरेण भावज्ञानमिति। **चकाराल्लोकमुखतोपि** ॥६॥

व्याख्यार्थ – त्रिदोषग्रस्त होने से उन्मत्त की तरह दुष्कर्म करने लगे जैसे कि भीमसेन को मारने के लिए विष के मोदक दिए, किन्तु वह पाताल में जाकर लौट आया। 'आदि' शब्द से भीम को मारने के अनेक उपाय किए, वे सब निष्फल हुए। कभी-कभी अपमान भी किया, इत्यादि सर्व वृत्तांत पृथा और विदुर ने सुनाया। साथ में अपना भी साधारण रीति से सुना दिया। एक ने स्वरूप का ज्ञान कराया, दूसरे ने उनके हृदय के क्या-क्या भाव हैं, वे भी सुना दिए। श्लोक में 'च' कहने का आशय यह है कि इन दोनों के सिवाय सामान्य जनता के मुख से भी सर्व वृत्तान्त सुनकर जान लिए ॥६॥

आभास—एवं भूतार्थपरिज्ञानमुक्त्वा भाव्यर्थपरिज्ञाने भगवदीयत्वं हेतुरिति पृथाया भगवदीयत्वनिरूपणार्थं भगवति तस्या नवधा भावमाह **पृथा त्विति**।

आभासार्थ—इस प्रकार भूतकाल के विषय का ज्ञान कर लिया। अब आगामी जो कुछ होना है, उस ज्ञान के होने में भगवदीयत्व कारण है, अतः पृथा भगवदीय है, इसका निरूपण करने के लिए 'पृथा तु' इस श्लोक में पृथा के भगवान् में नव प्रकार के भाव बताते हैं।

श्लोक— पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम्।
उद्देश्यं जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकुलेक्षणा ॥७॥

श्लोकार्थ—पृथा(कुन्ती)तो अपने भ्राता अक्रूरजी को आए देख उसके समीप पूछने के लिए आई, किन्तु अपने पितृ कुल का स्मरण होते ही पृथा के नेत्र आँसूओं से भर गए ॥७॥

सुबोधिनी—यद्यप्येषा कुन्तिभोजाय दत्ता तथाप्युत्पन्ना शूरादेवेति पितृगृहं वसुदेवादय एव भवन्ति, वसुदेवो भ्रातेत्ययमपि भ्राता। तुशब्दस्तज्जिज्ञासाभिन्नप्रक्रमार्थः। **प्राप्तमिति** तस्या अलभ्यलाभो दर्शितः। **उद्देश्यमिति**। 'आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथे'त्युक्तम्। वस्तुतस्तु। पूर्वमेव समागमनादनन्तरमेव भगवति भावः। अत एव तुशब्दप्राप्तशब्दौ। **उपसृत्य** समीपे समागत्य तं पर्यनुयुञ्जाना **जन्मनिलयं** जन्मगृह पितृकुलमिति यावत्। तत् **स्मरन्तीति** लोकवदश्रुकुलेक्षणा जाता ॥७॥

व्याख्यार्थ—पृथा का जन्म तो शूरसेन से हुआ है, किन्तु कुन्ती भोज की पाली हुई सन्तति है। अतः उसका वसुदेव आदि ही पितृ गृह है। इसलिए जैसे वसुदेव भ्राता है, वैसे ही अक्रूर भी भाई है। 'तु' शब्द देकर यह बताया है कि अब जो जिज्ञासा का प्रक्रम[1] है, वह भिन्न है। अक्रूरजी का आना पृथा के लिए अलभ्य लाभ है। 'उद्देश्य' जो कुछ पूछने का विचार था, वह सब उसको पृथा

१– सिलसिला,

ने बता दिया। पृथा का वास्तविक तो प्रथम गोकुल में जाने के अनन्तर ही भगवान् में भाव हो गया था। इसलिए ही 'तु' शब्द तथा 'प्राप्त' शब्द कहे हैं। 'प्राप्त' का अर्थ केवल यहाँ आ गए नहीं है, किन्तु इसका गूढ आशय यह है कि अक्रूर को भगवान् ने भेजा है, इसलिए वे परम आप्त पुरुष हैं। पृथा भाई के पास आकर पूछने लगी तो उसी क्षण पितृकुल का स्मरण होते ही लोक की भाँति नेत्र आँसूओं से भर गए ॥७॥

आभास—एतत्कायिकं मानसिकं च निरूपितम्। वाचनिकं निरूपयति **अपि स्मरतीति**।

आभासार्थ—कायिक और मानसिक का निरूपण किया, अब वाचनिक भाव 'अपि स्मरति' श्लोक में कहती है।

श्लोक—**अपि स्मरति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे।**
भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥८॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य! हमारे माता-पिता और भ्राताओं, बहिनें, भतीजे, कुल की स्त्रियाँ तथा सहेलियाँ हमें याद करती हैं? ॥८॥

सुबोधिनी—सौम्येति सम्यक्कथनार्थं संबोधनम्। नोस्मान् पाण्डवान्। **अपीति** सम्भावनायाम्। यतः **पितरौ** यतो **भ्रातरः** पित्रोर्वृद्धत्वेनाप्रयोजकता शङ्क्येतेति भ्रातृग्रहणम्। म इति स्वस्य प्रियत्वं सूचितम्। यद्यपि **भगिन्योन्यत्र** सन्ति तथापि पितृगृहे समायान्तीति तेषां स्मरणज्ञानसम्भावना, अन्यस्मै दत्तेति शङ्क्या कदाचिदस्मरणं, तथा सति न निस्तार इति भावः। स्मरणे त्वभिजनसम्पत्तिः सिद्धेति न तथा दुःखं भवति। **भ्रातृपुत्राः** वसुदेवादिपुत्राः **चकाराद्भगिनीपुत्राश्च। जामयः** कुलस्त्रियः पितृवंशविवाहिता देवकीप्रभृतयः **सख्यः** स्वस्य तासां स्मरणमावश्यकमिति सर्वाश्च ताः सख्य एव, **चकाराद्** बालिकाश्च, संपूर्णवंशस्य समत्वेन दुःखमिति भावः ॥८॥

व्याख्यार्थ—'सौम्य' सम्बोधन इसीलिए दिया है कि मैं जो पूछूँगी, उसका उत्तर आप पूर्ण रीति से दोगे; क्योंकि आप चन्द्र की तरह स्वच्छ हृदय वाले होने से 'सौम्य' कहे जाते हो, 'अपि' शब्द सम्भावना अर्थ में दिया है अर्थात् यों हो सकता है, हम पाण्डवों को माता-पिता और भ्राता याद करते हैं? अर्थात् जब आप यहाँ आए, तब माता-पिता वृद्ध होने से उन्होंने कुछ भी न कहा हो किन्तु भाईयों ने स्मरण कर कुछ कहा? 'मे' मेरे शब्द कहकर अपना प्रियपन सूचित किया है अर्थात् मैं बान्धवों को प्यारी हूँ, वे मुझे प्यारे हैं, यद्यपि बहिनें दूसरे के घर में गई, जब पिता के घर आवे, तब उनके स्मरण की सम्भावना हो सकती है, किन्तु विस्मरण भी हो सकता है; क्योंकि हृदय में यदि ऐसा भाव उत्पन्न हो जावे कि दूसरे को दे दी, अब यह पराई है तो स्मरण किस लिए? यदि ऐसा भाव हो जावे तो कोई उपाय नहीं है, जिससे कन्या व भगिनी को सदैव इस दुःख से दुःखी रहना

पड़ता है, यदि स्मरण किया जावे तो अपनेपन की सिद्धि होने से दुःख नहीं रहता है, किन्तु प्रसन्नता होती है, भाई के पुत्र वसुदेव आदि एवं 'च' कहने से बहिनों के पुत्र भी कहे हैं, कुल की स्त्रियाँ अर्थात् जो पितृ वंश में विवाहित देवकी आदि हैं, इनको 'जामि' कहा है, अपनी सखियाँ उनको भी स्मरण करना योग्य है, वे सब सखियाँ ही हैं, दूसरे 'च' से सब बालिका भी कही है, इस प्रकार सर्व वंश के स्मरण का पूछने का भाव यह है कि सबके लिए समान दुःख है ॥८॥

आभास—किञ्च । स्मरन्त्वन्ये मा वा भ्रात्रेयः कृष्णः स्मरति न वेति पृच्छति **भ्रात्रेय** इति ।

आभासार्थ—अन्य कोई स्मरण करे या नहीं करे, किन्तु मेरे भतीजे याद करते हैं कि नहीं ? इसे 'भ्रात्रेयो भगवान्' श्लोक से कहते है ।

श्लोक—भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
पैतृष्वस्रेयान्स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥९॥

श्लोकार्थ—भतीजे भगवान्, भक्तवत्सल; शरण देने वाले श्रीकृष्ण तथा कमल-नयन बलराम (क्या) भूआ के पुत्रों को याद करते हैं ? ॥९॥

सुबोधिनी—प्रायेणेयं नन्दगृहे समागत्य गतेति लक्ष्यते । तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे । 'सा मां विमोहयती'त्यत्रातो भगवतोनुभवात्स्मरणं पृच्छति । स्मरणे संबन्धमाह **पैतृष्वस्रेयानिति** । पितृष्वसुः पुत्रान् पाण्डवान् । रामेऽपि स एव संबन्धः इति **रामश्चे**त्युक्तम् । चकाराद्भगवद्भक्ता उद्धवादयोपि । **अम्बुरुहेक्षण** इति **स्मरति** चेत्तापं ज्ञात्वा समायास्यतीति लक्ष्यते । दृष्ट्यैव तापदूरीकरणार्थम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—कुन्तीजी इस प्रकार जो पूछती है, जिससे जाना जाता है कि यह नन्दरायजी के घर आकर देख गई है, इस बात को प्रथम स्कन्ध के 'सा मां विमोहयति' श्लोक में कहा है, अतः भगवान् का अनुभव होने से स्मरण आते ही पूछती है, स्मरण होने के कारण जो सम्बन्ध है, वह बताती है कि पाण्डव भूआ के पुत्र हैं, उनको याद करते हैं कि नहीं ? राम का भी वही सम्बन्ध है, इसलिए 'रामश्च' कहा है तथा 'च' कहने का यह तात्पर्य है कि जो भगवान् के भक्त उद्धव आदि हैं; वे भी याद करते हैं कि नहीं ? 'अम्बुरुहेक्षणः' यह विशेषण देने से यह जाना जाता है कि जैसे कमल तापनाशक है, वैसे ही आप हैं, अतः हमारे ताप को जान अवश्य आकर उसका निवारण करेंगे, दृष्टि से ही ताप को नाश करेंगे ॥९॥

आभास—तदर्थं तापं निरूपयति **सपत्नमध्ये शोचन्तीमिति** ।

आभासार्थ—पृथा आपने दुःख का वर्णन 'सपत्न' श्लोक में करती हैं ।

श्लोक—सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव ।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मैं तो जैसे व्याघ्रों के बीच में हरिणी आ गई हो, वैसे शत्रुओं के बीचमें पड़ी हुई शोक कर रही हूँ, ऐसी जो मैं हूँ उसको और पितृहीन बालकों को श्रीकृष्ण अपने वचनों से सान्त्वना देंगे कि नहीं ?॥१०॥

सुबोधिनी—व्यवहारे नाममात्रेण सम्बन्धिनः । वस्तुतः शत्रवः । नापकारमात्रं तेषां किन्तु सर्वनाशकत्वमिति दृष्टान्तमाह **वृकाणां मध्ये हरिणीमिवेति** । प्रसङ्गादागमन निवारयति **सान्त्वयिष्यतीति** । प्रसङ्गादागतवाक्यानि न सर्वथा सान्त्वनसमर्थानि भवन्ति । **मामिति** । पाण्डवास्तु भ्रातरो भवन्ति, अहं पितृभगिनीति उभयोर्विशेषाकारेण सान्त्वनं करिष्यति किं **वाक्यैरर्थवद्भिः** सुखेन सर्वान् स्थापयिष्यामीति । इह लोके परलोके च **पितृहीनांश्चकारान्** मातृहीनानपि । कृष्णस्य विशेषणं भगवानित्युक्तत्वादन्येषामवस्थादोषो भवतीति **बालकानित्युक्तम्** । स्वतोसमर्थान् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—व्यवहार में ये नाम मात्र सम्बन्धी हैं, वास्तविक[1] तो ये शत्रु हैं, ये ऐसे शत्रु हैं, जो केवल अपकार कर शान्त हो जावे वह नहीं, किन्तु सर्व प्रकार नाश करने वाले शत्रु हैं, जैसे हरिणी का व्याघ्रों के मध्य में आ जाने पर सर्वनाश होता है, वैसो ही हमारी भी दशा है, वैसी दशा में प्रसङ्ग से आने के वचन सान्त्वना कराने के लिए समर्थ नहीं है, इस लोक तथा परलोक में माता और पिता से हीन पाण्डव तो भ्राता हैं, मैं तो भूआ हूँ, अतः आप स्वयं दोनों को विशेष रूप से आकर सर्व को सुखी करूँगा, ऐसे वचन कहकर सान्त्वना देंगे ? श्रीकृष्ण में अवस्था आदि दोष नहीं है, इसलिए कि आप भगवान् हैं और जिन दूसरों में दोष हैं उनके लिए 'बालक' पद विशेषण रूप में दिया है, बालक होने से स्वतः असमर्थ हैं ॥१०॥

आभास—एवं मनोरथमुक्त्वा तदानीमेव समागतं भगवन्तं मन्यमाना संमुखतया प्रार्थयते **कृष्ण कृष्णेति** ।

आभासार्थ—कुन्ती ने इस प्रकार अपना मनोरथ कहा तो उस समय ही सामने भगवान् आ रहे हैं, यों समझ 'कृष्ण कृष्ण' श्लोक में प्रार्थना करती है ।

श्लोक—कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥११॥

१—सचमुच

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा ! हे विश्व को अनुभव कराने वाले ! हे गोविन्द ! बालकों के सहित क्लेश को प्राप्त मैं आपकी शरण हूँ, अतः शरणागत की रक्षा करो ॥११॥

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा अकस्मादागते वा। नन्वहमन्यत्र, अत्र तव दृष्टिभ्रमो भविष्यतीत्याशङ्क्याह महायोगिन्निति। तथापि किमेवमेतावद्दूरं सर्वपरित्यागेनागमनेनेति चेत्तत्राह **विश्वात्मन्निति**। सर्वस्य भगवानात्मा; आत्मना हि देहादेः प्रियं कर्तव्यं प्रयत्नस्य तदधीनत्वात्, अतः सर्वथा आगमनम्, तथाप्यक्रूरवदेवागन्तव्यं किमिति विशेषाकारेणागतमिति चेत्तत्राह **विश्वभावनेति**। विश्वमेवानुभावयतीति। नह्यलौकिकाकारणे विश्वमनुभावितं भवति। अलौकिकबुद्धावेवालौकिकानुभावो भवति। एवं भगवन्तं संबोध्य समागमनं तत्प्रकारं चोक्त्वा प्रार्थयते **प्रपन्नां पाहीति**। साधारणा अपि प्रपन्ना रक्षणीयाः भगवतः सम्बन्धो नापेक्षितः। अतः प्रपत्तिरेव हेतुत्वेन निरूपिता। **अवसीदतीमवसादं** प्राप्नुवतीमिति। अप्रपन्नामपि परिपालने हेतुः, तत्रापि **शिशुभिः** सह, लाक्षागृहदाहं वा भगवन्तमिव पश्यन्ती ॥११॥

व्याख्यार्थ—यहाँ कृष्ण सम्बोधन दो बार देकर कृष्ण के प्रति आदर व प्रेम प्रकट कर दिखाया, अथवा अचानक दर्शन होने के कारण दो बार 'कृष्ण कृष्ण' कहा है, यदि कृष्ण कहे कि मैं तो यहाँ हूँ ही नहीं, तुझे दृष्टि भ्रम हुआ है, जिसके उत्तर में कहती हैं कि आप महायोगी हैं, इसलिए कहीं भी हो तो भी यहाँ दर्शन देने में समर्थ हो, यद्यपि महायोगी हूँ तो भी सर्व का परित्याग कर यहाँ इतनी दूर आने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहती हैं कि आप विश्व की आत्मा हैं, अतः सर्व की आत्मा होने से अपने देह आदि के प्रिय करने के लिए प्रयत्न करना ही आपका कर्त्तव्य है, अतः आत्मा को सर्वथा आना ही चाहिए, यदि कृष्ण कहे कि मान लो आत्मा होने से मुझे आना ही चाहिए, तो भी अक्रूर की भाँति आना चाहिए, इस विशेष प्रकार से आने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहती हैं कि जब तक अलौकिक प्रकार नहीं किया जाता है, तब तक विश्व को अनुभव नहीं होता है, यह अलौकिक अनुभव उस बुद्धि में होता है, जो बुद्धि अलौकिक होती है, इस प्रकार भगवान् को सम्बोधन कर, आने का एवं उसके प्रकार का वर्णन कर प्रार्थना करती है मैं आपकी शरण में हूँ, शरण आई हुई की रक्षा करो, भगवान् कोई भी साधारण शरण आता है तो उसकी भी रक्षा करते हैं, सम्बन्ध की भी आवश्यकता नहीं देखते हैं, तो मैं भी शरण आई हूँ, जिससे मेरी रक्षा करने में शरणागति भी हेतु है, शरण आई हुई मैं बहुत दुःख पा रही हूँ, यदि मैं शरण न भी आऊँ, तो भी आप दयालु होने से मेरी दुःखी दशा को देख मेरी रक्षा करो, न केवल मैं अकेली दुःखी हूँ, किन्तु बच्चों के समेत दुःखी हूँ, कुन्ती भगवद्भक्ता होने से जैसे भावावेश में भगवान् के न होते हुए भी भगवान् के दर्शन कर रही है, वैसे लाक्षागृह दाह की भी स्फूर्ति उसको हो रही है, अतः यों कहती हुई रक्षा की प्रार्थना कर रही है ॥११॥

आभास—ननु पुत्रा अपि तव समर्थाः पितरो भ्रातरश्च। अतः किमिति विषादः क्रियत इत्याशङ्क्याह **नान्यत्तव पदाम्भोजादिति**।

आभासार्थ - तेरे पुत्र, भाई, पिता आदि सर्व समर्थ हैं, फिर तूँ इतना सन्ताप क्यों करती है? जिसका उत्तर 'नान्यत्तव पदाम्भोजात्' श्लोक में देती है।

श्लोक—**नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि शरणं नृणाम्।**
बिभ्यतां मृत्युसंसारादाश्वरस्यापवर्गिकात् ॥१२॥

श्लोकार्थ—जब तक मोक्ष नही होता है,नब तक मरण का भय मिटता नहीं, अतः इस मृत्यु रूप संसार से डरने वाले मनुष्यों का आप ईश्वर के चरण कमल से अन्य कोई रक्षक मैं नहीं देखती हूँ ॥१२॥

सुबोधिनी– मृत्युसंसाराद्बिभ्यतामन्यच्छरणमेव नास्ति, मृत्योः ससाराच्च प्रतिजन्म मृत्योर्भयं संसारभयमेकमेव। मृत्यवश्च बहव इति मृत्युभयमेकमन्यस्मादपि निवर्तते सर्वमृत्युभयं तु संसारमेव भगवत एव निवर्तते। उभयं स्वतन्त्रभक्त्यैव निवर्तत इति पदाम्भोजपदम्। ननु भगवन्तं परित्यज्य चरणात् कथं निवृत्तिरुच्यत इति चेत्तत्राह ईश्वरस्येति। स हि चरणद्वारापि सर्वं कर्तुं समर्थः। किञ्च। ईश्वरत्वाद् दुराराध्यत्वान् निर्विचिकित्सं फलार्थिनः प्रवृत्तिरपि कुण्ठिता भवेत्। चरणौ तु नियतौ। अत एव नियतो भक्तिमार्गः फले फलावश्यंभावे च, ईश्वरभावस्त्वनियतः। ईश्वरत्वान्मृत्युनिराकरणमापवर्गिकादपवर्गाधिपतेः संसारनिवृत्तिरयं संसारस्त्वपवर्गपर्यन्तं भवतीत्यापवर्गिकः मृत्युरपि तथा ॥१२॥

व्याख्यार्थ– मृत्यु रूप संसार से डरे हुए मनुष्यों का आपके सिवाय अन्य कोई रक्षक नहीं है, मनुष्य को प्रत्येक जन्म में मृत्यु से और संसार से भय होता ही रहता है, वह भय एक ही है, मनुष्य को मृत्यु बहुत देखनी पड़ती हैं, किन्तु मृत्यु का भय मृत्यु होने से मिट जाता है, किञ्च बार-बार जन्म लकर जो मृत्यु भय भोगना पड़ता है, जिसका कारण संसार है, उस संसार के मिट जाने के सिवाय मृत्यु भय बना ही रहता है, इस संसार को मिटाने वाले भगवान् ही हैं, संसार भय और मृत्यु भय दोनों स्वतन्त्र भक्ति के सिवाय नहीं मिटते हैं, इसलिए 'पदाम्भोज' पद दिया है, अर्थात् भगवान् के चरण कमल के आश्रय के सिवाय ये दोनों भय नहीं मिटते हैं, भगवान् से मिटते हैं, यों न कहकर उनके चरण कमल से मिटते हैं, यह कैसे कहा ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि वे चरण कमल 'ईश्वर' के हैं, ईश्वर सर्व समर्थ होने से चरण[1] द्वारा भी सब कुछ कर सकते हैं, भगवान् ईश्वर होने से दुराराध्य[2] हैं, अतः जो फल चाहता है, उसकी प्रवृत्ति उनमें बिना संदेह निश्चित् पूर्ण रूप से होनी कठिन हैं, चरण तो नियत है अर्थात् भक्ति करने (सेवा करने) में किसी प्रकार दुर्लभता नहीं है अतएव भक्ति मार्ग, फल देने में तथा अवश्य फल प्राप्ति कराने में निश्चित् किया हुआ है, ईश्वर द्वारा फल की प्राप्ति निश्चित् नहीं है; क्योंकि ईश्वर स्वतन्त्र है, फल दे न भी देवे, उनकी

१—चरण का तात्पय है 'भक्ति' अर्थात् भगवच्चरणों के आश्रय रूप भक्ति द्वारा संसार नष्ट हो जाता है,

२—उनकी सेवा सरल नहीं है।

इच्छा पर निर्भर है, आप ईश्वर होने से मोक्ष के अधिपति हैं, यह मृत्यु जब तक मोक्ष नहीं होता है, तब तक रहती है, मोक्ष तब होता है, जब जन्म लेने का कारण संसार (अहन्तामम्तात्मक तथा आशा) निवृत्त हो जावे, यह निवृत्त हुआ तो मृत्यु भय व संसार भय स्वयं स्वतः निवृत्त हो जाता है ॥१२॥

आभास—एतावत्प्रार्थनानन्तरमङ्गीकारेणैव तत्परितोषं कृत्वा तिरोधाने कृते तादृशाय पुनर्नमस्करोति ।

आभासार्थ—कुन्ती की इतनी प्रार्थना के अनन्तर भगवान् प्रार्थना को अपनी प्रसन्नता से स्वीकार कर तथा इसको प्रसन्न कर तिरोहित हो गए, वैसे भगवान् को फिर 'नमः कृष्णाय' श्लोक में नमस्कार करती है ।

श्लोक—नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥१३॥

श्लोकार्थ—शुद्ध स्वरूप, ब्रह्म, परमात्मा, योगेश्वर, योग मूर्ति श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करती हूँ, मैं आपकी शरण आई हूँ ॥१३॥

सुबोधिनी—नमस्कारे सम्बन्धस्य विरुद्धत्वाद् यदैव चिकीर्षितस्तदैव तिरोहितः । कृष्णायेति सदानन्दाय, अवतारपरत्वेपि धर्मा न बाधका इत्याह शुद्धायेति । अवतारसंबन्धिधर्मैरस्पर्शात् । अनेन कालान्ताः सर्व एव धर्मा निवारिताः । नन्वागतस्य सर्वथेतरसम्बन्ध इति चेत्तत्राह ब्रह्मण इति । जीवानामेवागतानां बन्धो न ब्रह्मणः । ननु जीवोपि वस्तुतो ब्रह्म भवतीति को विशेष इति चेत्तत्राह परमात्मन इति । परमश्चासावात्मा चेति । उत्कृष्ट आत्मा आत्मनामप्यात्मा वा । ननु तर्हि कथं मूलसमागमनं हेत्वसंभवादंशत्वे परिच्छेदे हि समागमनं संभवति । तत्राह योगेश्वरायेति । योगो ह्यलौकिकं कर्तुं शक्तो यत्र बुद्धिर्न प्रसरति तस्यापीश्वरः कथं स्वागमनमपि न संपादयेत् । किञ्च । योगस्यापि सामर्थ्यं भगवत एवेत्याह योगायेति । भगवानेव योगः । अतः सामर्थ्यस्य दृष्टत्वान्नानुपपन्नं किञ्चित् । अतो यथा आगतोपि तद् धर्मैर्न लिप्यते, सर्वत्र पूर्णोप्यागच्छति,एवमस्मानपि पालयिष्यतीति निश्चित्याह त्वामहं शरणं गतेति । शरणागमने परिपालनमावश्यकमिति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—कुन्ती ने जब सम्बन्ध बताने तथा नमन करने की इच्छा की, तब भगवान् छिप गए, कारण कि नमस्कार और सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि नमस्कार भगवद्भाव से की जाती है, उसमें लौकिक भाव नहीं होना चाहिए, यदि लौकिक सम्बन्ध हुआ तो भगवद्भाव न रहेगा, जिससे नमस्कार भी उपयुक्त न होगा ।

अब नमस्कार करने के लिए उनके स्वरूप का वर्णन करती है, 'कृष्णाय' आप सदानन्द रूप

हैं यह 'कृष्ण' नाम अवतार पर होते हुए भी आपके सदानन्द आदि धर्मों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती है अर्थात् आप अवतार दशा में भी उन धर्मों से युक्त हो, जिसके लिए 'शुद्धाय' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि अवतार से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्याकृति आदि दृश्य धर्म आपको स्पर्श नहीं करते हैं, आप शुद्ध ही हैं, यों कहकर काल आदि सभी धर्म आप में नहीं है, यह भी बता दिया. यदि आप कहो कि जो जगत् में आया. उसको जगत् के धर्म का सम्बन्ध तो होगा ही तो इसके उत्तर में मेरा कहना है कि जीव को अन्य सम्बन्ध होता है, आप 'ब्रह्म' हो, अतः आपको नहीं होता है, यदि कहो कि जीव भी वस्तु स्वरूप से ब्रह्म है. जिससे मुझ में क्या विशेषता है ? इस के उत्तर में मेरा कहना है कि जीव 'आत्मा' है आप 'परमात्मा' हैं अर्थात् आप आत्माओं की भी आत्मा होने से उत्कृष्ट आत्मा हैं, यदि आप कहो कि मैं आत्माओं की भी आत्मा मूल रूप हूँ, तो मेरा आगमन कैसे हुआ ? आगमन तो अंश हो और परिच्छिन्न हो, उसमें होता है; अपरिच्छिन्न में नहीं होता है ? इसका उत्तर यह है कि आप अपरिच्छिन्न मूल रूप हैं, किन्तु साथ में योगेश्वर भी हैं, योग वह अलौकिक कार्य कर सकता है, जहाँ बुद्धि नहीं पहुँचती है, फिर आप तो उस योग के ईश्वर हैं, तो अपना कहीं भी आना क्यों नहीं कर सकते हैं ? योग को जो सामर्थ्य है, वह भी आप भगवान् की ही है, इसलिए 'योगाय' विशेषण दिया है कि भगवान् ही योग है; इससे जो सामर्थ्य देखी गई है, वह किसी प्रकार कुछ भी अयोग्य नहीं है, अतः जिस प्रकार अवतार लेने पर भी अन्य धर्मों से लिप्त नहीं होते हो, उसी प्रकार पूर्ण होते हुए भी आ सकते हो, उस समय भी परिच्छिन्नता आपको स्पर्श भी नहीं करती है, इस प्रकार हम लोगों की भी पालना अवश्य करोगे, यह निश्चय कर मैं आपकी शरण आई हूँ शरण आने पर पालना आवश्यक है ॥१३॥

आभास—ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **इत्यनुस्मृत्येति** ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'इत्यनुस्मृत्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।**
प्रारुदद्दुःखिता राजन्भवतां प्रपितामही ॥१४॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! आपकी परदादी इस प्रकार सम्बन्धियों को और जगत् के ईश्वर श्रीकृष्ण का स्मरण कर दुःखी होकर जोर से रोने लगी ॥१४॥

सुबोधिनी—**स्वजनं** पित्रादीन् **कृष्णं च** चकारादबलभद्रं भगवद्गुणांश्च, **जगदीश्वरमिति** सर्व एव पाल्या इति बहिर्मुखाः, तिरोधानात्पाक्षिकरक्षामाशङ्क्य च प्रकर्षेणारुदत् । वंशं दूरीकरिष्यति । एकं परीक्षितं कथञ्चित्स्थापयिष्यति । इत्येवं भगद्वंशे स्त्रियोपि भक्ता इति ज्ञापयितुमाह । **भवतां प्रपितामहीति** । पितामही सुभद्रा । कुन्ती तु प्रपितामही ॥१४॥

व्याख्यार्थ—अपने सम्बन्धी, पिता आदि एवं कृष्ण को श्लोक में 'च' दिया है, जिससे बलरामजी तथा भगवान् के गुण कहे हैं, 'जगदीश्वर' विशेषण देकर यह बताया है कि आप जगत् के ईश्वर हैं, अतः आपको सर्व की पालना करनी ही है, चाहे वे बहिर्मुख हो, भगवान् छिप गए, जिससे कुन्ती के मन में संशय उत्पन्न हुआ कि हमारी रक्षा करेंगे कि नहीं करेंगे ? इस भाव के आने पर तुम्हारी परदादी जोर से रोने लगी, वंश को तो दूर करेंगे, केवल एक परीक्षित की बड़ी सावधानी से रक्षा करेंगे, इस प्रकार तुम्हारे वश में स्त्रियाँ भी भक्त हुई हैं, यह बताने के लिए शुकदेवजी ने कुन्ती का नाम न लेकर कहा है कि 'तुम्हारी परदादी' परीक्षित की सुभद्रा दादी है और कुन्ती परदादी है ॥१४॥

आभास—भगवतः सान्त्वनं तु पाक्षिक मन्यत इति भगवदीयैः सान्त्वनं क्रियत इत्याह **समदुःखसुख** इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जो सान्त्वना दी, वह तो पाक्षिक समझी जाएगी, अतः भगवदीय सान्त्वना देते हैं, जिसका वर्णन 'समदुःखसुख' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—समदुःखसुखोक्रूरो विदुरश्च महायशाः ।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी और बड़े यशस्वी विदुरजी कुन्ती के साथ बराबर सुख तथा दुःख का अनुभव करते हुए उसके पुत्रों के जनक 'धर्म' और 'इन्द्र' आदि का प्रभाव कहकर सान्त्वना देने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—तत्रार्थे अक्रूरस्य सान्त्वनमनुचितं मत्वाह समे सुखदुःखे यस्येति । यद्यपि जाते अनिष्टे इष्टे वा सुखं दुःखं समानं तथाप्ययमक्रूरः प्रसिद्धः पुरुष इति सान्त्वनमुचितमेव । विदुरोपि तथा । यद्यपि तुल्यस्तथापि धर्मपक्ष इत्याह **महायशा** इति । तत एव हि धर्मो भवति, नान्यथा । **सान्त्वयामासतुः** न तु तद्दुःखं दृष्ट्वा स्वयं युद्धार्थं प्रवृत्ताः । यतः **कुन्ती** कुन्तिभोजाय दत्ता, तत्रापि स्वरक्षार्थं धर्मादयः प्रार्थिता इत्यक्रूरविदुराभ्यां युद्धे कृते तत्प्रयत्नो व्यर्थो भवतीति **तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिधर्मादिभिः** कृत्वा सान्त्वनमेव कृतवन्तौ न तु युद्धार्थं प्रवृत्ता इति युक्तम् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—यों तो इस विषय में अक्रूर सान्त्वना देते हैं यह उचित नहीं है, किन्तु अक्रूर महान् प्रसिद्ध पुरुष है उनको अनिष्ट या इष्ट में दुःख सुख समान है तो भी महत्ता के कारण सान्त्वना देनी योग्य ही है, विदुर भी वैसे ही हैं अतः वे भी सान्त्वना देवे, यह योग्य है, विशेष में यद्यपि इसको दोनों तुल्य हैं तो भी यह धर्म पक्ष है इसलिए सान्त्वना दे मार्ग बताया है, इसलिए विदुरजी महायशस्वी माने जाते हैं, यों करने से ही धर्म होता है अन्य प्रकार से धर्म नहीं हो सकता है, केवल सान्त्वना दी, इनका दुःख देख कर युद्ध के लिए तैयार न हुए, क्योंकि 'कुन्ती' भोज को दी गई है, इसमें यह प्रेरणा दी कि कुन्ती को अपनी रक्षा के लिए धर्म आदि को प्रार्थना करना चाहिए, यदि

ये[1] युद्ध करें तो सर्व प्रयत्न व्यर्थ हो जावे, इसलिए तुम्हारे पुत्रों के जनक 'धर्म' आदि से ही तुम्हारा दुःख दूर होगा यों कह कर सान्त्वना दी, किन्तु स्वयं युद्ध में प्रवृत्त न हुए यह योग्य ही किया ॥१५॥

आभास—तथाप्यक्रूरोऽसहमानो वाक्येन धिक्कारे कृते यद्ययं विमनो भविष्यति तदा मारयिष्यामीति निश्चित्य तद्गृहे स्थितस्तदधीनो भवतीति ततो निर्गच्छन् राजसंबोधनार्थं प्रवृत्त इत्याह **यास्यन्निति** ।

आभासार्थ - अक्रूरजी, कुन्ती और उसके पुत्रों के दुःख देखकर सहन नहीं कर सके, जिससे मन में यह विचार आया कि यदि इस कुकृत्य के कारण धृतराष्ट्र को धिक्कारूँगा और उससे मुझे इनसे लड़ना पड़ेगा तो मैं इसको मार सकूँगा, किन्तु अब इसके घर में रहता हूँ, घर में रहने वाला घर के स्वामी के अधीन होता है, इसलिए जब घर छोड़ा, तब राजा को सबोधन करते हुए 'यास्यत्' श्लोक में इस प्रकार कहने लगे ।

श्लोक—यास्यन्राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् ।
अवदत्सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—जाते समय अक्रूरजी बान्धवों के समक्ष, कुपुत्रों के कहने पर सब कुछ करने वाले, विषम दृष्टि राजा धृतराष्ट्र के पास आकर, रामकृष्ण ने जो कहलाया था, वह सब कहने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—राजानं धृतराष्ट्रं राजत्वादवश्यं वक्तव्यः, अन्यथा मर्यादातिक्रमो कवेत् । **अभित एत्येति** निःशङ्कम् । ननु राजा न वक्तव्यः सर्वप्राणिभिः यथा भगवान्, तत्कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह **विषममिति** । तत्र हेतुः **पुत्रलालसमिति** । पुत्रो हि स्वयं जीवन् पाण्डवान्न मन्यते । अधुना किं पाण्डवा हन्तव्याः पुत्रो वेति विचारे दुष्टो हन्तव्य इति धर्मशास्त्रात् पुत्रस्यैव मारणं प्राप्तं तन्न करोतीति विषमः, सहजो धर्मो विहितं धर्मं बाधते । एतत्र राजाधिकारे निविष्टस्य वैषम्यमनुचितमिति बोधनमुचितमिति भावः । तदपि नैकान्ते, तथा सति लज्जा न भवेदतः **सुहृदां मध्ये** । तस्मिन्विषमेऽप्यन्येषामविषमत्वान् न वचनेपि किञ्चिदनिष्टम् । तत्रापि **बन्धुभिरुदितं** वसुदेवादिभिः । तत्रापि **सौहृदादेवोदितं** न तु विषमबुद्धया ॥१६॥

व्याख्यार्थ - धृतराष्ट्र राजा है, राजा होने के कारण उसका सब कहना चाहिए, यदि न कहा जाएगा तो मर्यादा का उल्लङ्घन होगा, इसलिए निःशङ्क होकर राजा के पास आ गए, यदि कहो कि जैसे भगवान् को कोई नहीं कह सकता है कि ऐसा करो या वैसा करो, वैसे राजा भी भगवन्मूर्ति होने से कहने योग्य नहीं है, इसके उत्तर में कहते हैं कि वह तब हो सकता है, जब राजा अपने स्वरूप

१—विदुर अक्रूर

को समझ समदृष्टि वाला हो, यह धृतराष्ट्र तो विषम दृष्टि वाला है, अतः इसको कहना चाहिए कि विषम क्यों हुआ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'पुत्र लालसम्' पुत्र में मोह वाला है, पुत्र चाहता है कि मैं जीता हूँ, तब तक पाण्डवों को राज्य न दूँगा, जीवित होंगे तो कभी न कभी राज्य ले लेंगे, इसलिए इनको कैसे भी नाश करना चाहिए, वैसी दशा में क्या करना चाहिए, पाण्डवों का नाश करना चाहिए या पुत्र का नाश करना चाहिए, इस बिचार करने में धर्म शास्त्र को आज्ञा तो यह है कि जो दुष्ट हो उसका नाश करना चाहिए, दुष्ट तो पुत्र है जिसको न नाशकर पाण्डवों का नाश कराने पर कमर कसी है, अतः यह राजा विषम है, अपना स्वाभाविक धर्म शास्त्र में कहे हुए धर्म में बाधा डालता है अर्थात् दुःस्वभाव या दुःसङ्ग शास्त्रीय धर्म करने नहीं देता है, यद्यपि राजा को तो राज्य सिंहासन पर बैठकर शास्त्र नियमानुसार ही कर्त्तव्य करने चाहिए, विषमता नहीं करना चाहिए, इसलिए वैसे राजा को समझाना ही योग्य है, यदि कहो कि यों है, तो एकान्त में समझा दो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि एकान्त में कहा जाएगा तो लज्जा न होगी, अतः बान्धवों के समक्ष कहने से कुछ लज्जा आ जावे तो इस विषमता का त्याग कर दे और वचन कहने से किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट न होगा, यह विषम है, दूसरे तो अविषम ही रहेंगे, फिर मुझे कहना भी आवश्यक है; क्योंकि मैं जो कुछ कहता हूँ, वह मेरी ओर से नहीं है, किन्तु वसुदेव आदि बान्धवों ने जो कुछ कहा है, वही मैं कहता हूँ, उन्होंने भी जो कहा है, वह अपनेपन से हित के लिए ही कहा है न कि विषम बुद्धि से कहा है ॥१६॥

आभास—वचनान्याह नवभिः **भो भो** इति ।

आभासार्थ—'भो भो वैचित्र' इस श्लोक से लेकर नौ श्लोकों में अक्रूर के वचन हैं ।

श्लोक—अक्रूर उवाच—**भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन ।**
भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनासनमास्थितः ॥१७॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी कहने लगे कि हे विचित्रवीर्य के पुत्र ! कौरवों के कुल की कीर्ति बढ़ाने वाले, आपके भ्राता पाण्डु के परलोक पधारने पर आप राज्य सिंहासन पर बैठे हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—सर्वैर्भावैः सर्वविधान्युक्तानि वचनानीति । आदौ रजःसत्त्वतमोभावेन लौकिकेन प्रबोधनं त्रिभिः । अन्धत्वान्न पश्यतीति वारद्वयं संबोधनम् । राष्ट्रं न बिभर्तीति न धृतराष्ट्रता । प्रज्ञाचक्षुरिति चेदुच्यते तर्हि मर्मभेदो भवेत् । तथा व्यासात्मज इत्यपि, स्त्रीपुत्रत्वादिसंबन्धो हीनत्वप्रतिपादकः । राजत्वं तु नास्तीति मन्यमानः कृत्रिमपितृनाम्ना संबोधयति **वैचित्र्यवीर्येति** । विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रजः पुत्र इत्यर्थः । **त्वमित्येकवचनेन स्वजन्मानुसन्धीयतामिति द्योतितम्** । **किञ्च** । कुरूणां वंशे त्वमुत्पन्नः तत्कीर्तिवर्धनमुचितम् । वर्धनशब्देन छेदनमप्युच्यये इति कीर्तिछेदकः त्वमित्यर्थादुक्तं भवति । राजाधिकारार्थं पुत्र उत्पादनीय इति विचार्य प्रथममुत्पापितः । ततश्चान्ध इति त्वं परित्यक्तः, ततः पाण्डुरुत्पादितः तस्मिन्नुपरते आगत्याधुना **आसनमास्थितः** सिंहासने उपविष्टः । अनेनायुक्तमेव करोषीति द्योतितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—अक्रूर ने सर्व भावों से सर्व प्रकार के वचन कहे, जिनमें से प्रथम रज, सत्त्व और तम भाव से कहे, वे लौकिक प्रकार से तीन श्लोकों में कहकर समझाये, दो बार सम्बोधन इसलिए दिए हैं कि अन्धे होने से देख नहीं सकते हैं, 'धृतराष्ट्र' शब्द का अर्थ है—जिसने राष्ट्र को धारण किया है, किन्तु आपने राष्ट्र को वास्तविक रीति से धारण नहीं किया है, अतः आप में धृतराष्ट्रता नहीं है, यदि धृतराष्ट्र न कहकर 'प्रज्ञाचक्षु' कहा जावे तो मर्म मे भेद हो जावे, यदि व्यास का पुत्र कहा जावे तो भी मर्म स्थान पर चोट आवे. स्त्री पुत्रादिक का सम्बन्ध हीनता का प्रतिपादक है, राजत्व हीनता को प्रतिपादन करने वाला नहीं है, इसलिए बनावटी पिता के नाम से सम्बोधन देने के लिए 'वैचित्र-वीर्य' कहा है, वह विचित्र वीर्य का क्षेत्रज पुत्र है, राजा होते हुए भी 'त्व' यह एकवचन जो कहा है, जिसका आशय है कि तूँ अपने जन्म की तलाश कर कि मेरा जन्म कैसे हुआ है ? फिर तूँ कुरु वंश में उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसकी कीर्ति को बढ़ाना तुझे योग्य है, यहाँ 'वर्धन' शब्द देकर धृतराष्ट्र को यह सूचना दी है कि तूँ अब वंश की कीर्ति का छेदन कर रहा है. राज्य चलाने के लिए पुत्र की आवश्यकता है, अतः पहले उस कार्य के लिए आपको पैदा किया, किन्तु आप अन्धे निकले, जिससे आप राज्य के लिए अयोग्य हुए, इसलिए फिर दूसरा पाण्डु उत्पन्न किया, जिसने राज्य सम्भाला, उसके परलोक हो जाने से अब राज्यासन अपने हाथ कर राजा बने हैं, यह जो कुछ आप कर रहे हो वह अयोग्य ही है, यों प्रकट देखने में आता है ॥१७॥

आभास—अङ्गीकृत्यापि सात्त्विकेन बोधनमाह **धर्मेणेति** ।

आभासार्थ—आपने सब कुछ किया तो भी आपको सात्त्विक भाव से व्यवहार करना चाहिए, इसलिए 'धर्मेण' इस श्लोक में सात्त्विकता से बोध करते हैं ।

श्लोक—**धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजाः शीलेन रञ्जयन् ।**
वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥१८॥

श्लोकार्थ—यदि धर्म से पृथ्वी का पालन करोगे, अच्छे आचरण से प्रजा को प्रसन्न करोगे, अपने सम्बन्धियों से समानता से व्यवहार करोगे तो कल्याण तथा कीर्ति को प्राप्त करोगे ॥१८॥

सुबोधिनी—धर्मेण पृथिवीपालनं कर्तव्यम् । तदा दृष्टादृष्टोपायेन पालिता भवति । भगवता हि नामरूपप्रपञ्चौ निर्मितौ अन्योन्यपरिपालनाय, तदेकेन रहितं व्यङ्गं भवति । अतो धर्मेणैव सह पालनं कर्तव्यम् । केवलकरणत्वे योगिनामिवास्यापि पालनं भवेत् । अनेन परलोके सुखमिहलोके तु राज्याद्वैषयिकं सुखं कीर्तिजन्यं तु ततोप्यधिकमिति तत्साधनं बोधयति **प्रजाः शीलेन रञ्जयन्निति** । शीलं सुस्वभावस्तेनैव प्रजा अनुरक्ता भवन्ति । अन्यथा तु युक्तं देयं प्रयच्छन्ति, बहिःकीर्तिसाधनमेतत् । अन्तःकीर्तिसाधनमाह **वर्तमानः समः स्वेष्विति** । सर्वेष्वेव बन्धुषु समो भवेत् । ततोन्तर्नापकीर्तिस्तज्ज्ञैश्च, तदा राजा **श्रेयः कीर्तिं** च प्राप्स्यति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में अक्रूर धृतराष्ट्र को सात्त्विक भाव से पालन करने की राह बताता है, भगवान् ने यह प्रपञ्च दो प्रकार से उत्पन्न किया है—एक नाम प्रपञ्च, दूसरा रूप प्रपञ्च; कारण कि वे दोनों परस्पर एक-दूसरे की पालना में सहायता करे, अतः हे राजन् ! आप भी केवल देह से नहीं किन्तु नाम प्रपञ्च शास्त्र की आज्ञा रूप धर्म के साथ पृथ्वी का पालन करो, यदि दोनों से पालन न कर एक से करोगे तो वह पालन अङ्गरहित अर्थात् अपूर्ण होगा, अतः धर्म के सहयोग से पालन करना चाहिए, केवल करण रूप धर्म से पालन करने से योगी के समान इसका पालन होगा, किन्तु इस प्रकार करने से जैसे योग के द्वारा पालन करने से योगी के योग का क्षय होता है, वैसे ही आपके धर्म का भी क्षय हो जावेगा, अतः दोनों के सहभाव से पालन करने से इस लोक में लौकिक सुख की प्राप्ति और परलोक में आनन्द की प्राप्ति होगी, अब इस लोक में कीर्ति भी हो, जिसके लिए आप सर्व प्रकार से प्रजा के मन का रञ्जन करो, वह तब होगा, जब आप अपने स्वभाव को सुन्दर बनाओगे, जिससे प्रजा का आप में प्रेम हो, आपकी लोक में बाहर की भी कीर्ति हो, जिसका साधन यह है कि आप जो योग्य भाग पाण्डवों का है, वह उनको दे दो तो आपकी लोक में विशेष कीर्ति होगी, कुटुम्ब में भी आपकी कीर्ति हो और अपकीर्ति जो हो रही है, वह मिट जावे, इसलिए अपने सर्व सम्बन्धियों से समान व्यवहार कीजिए, यों करने से राजा श्रेय और कीर्ति को प्राप्त कर सकता है, आप करोगे तो आप भी कल्याण और यश पाओगे ॥१८॥

आभास—अनङ्गीकारे तामसं वचनमाह **अन्यथेति**।

आभासार्थ—उपरोक्त वचनों के अङ्गीकार न करने से तामस वचन 'अन्यथा' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः।
तस्मात्समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार मैंने कहा है, उसी प्रकार यदि राजा आचरण नहीं करता है तो उसकी लोक में निन्दा होती है और वह मरने के अनन्तर अन्धतम नरक में पड़ता है, इसलिए आप अपने पुत्र तथा पाण्डवों में एक जैसी बुद्धि रखकर समान व्यवहार करो ॥१९॥

सुबोधिनी—उक्तप्रकारादन्यथा प्रकारेण भूपालनं प्रजाननुरागं विषमत्वं च कुर्वन् कीर्तिप्रतिनिधिं श्रेयःप्रतिनिधिं च प्राप्स्यसीत्याह। **गर्हितो** निन्दितः **तमोन्धतमः** महद्दुःखं प्राप्स्यसीति, अतो बाधवशादपि समो भवेदित्याह **तस्मादिति**। **समत्वे** समत्वार्थं **वर्तस्व** यथैव त्वं समो भवसि तथोपायं कुर्वित्यर्थः। वैषम्यस्थानमुद्घाटयति। **पाण्डवेष्वात्मजेष्विति**। चकारात्तत्सबन्धिषु च ॥१९॥

व्याख्यार्थ—अब अक्रूरजी कहते हैं कि यदि राजा अन्य प्रकार से पृथ्वी का पालन करता है,

तो प्रजा का राजा में प्रेम नहीं रहता है, यदि उसमें भी समबुद्धि न रख विषम बुद्धि करता है तो कीर्ति तथा श्रेय की प्राप्ति न होकर तुम्हारी निन्दा भी होगी, न केवल निन्दा किन्तु अन्धतमः की प्राप्ति होगी, अर्थात् महान् दुःख भोगोगे, अतः बाध करने वालों के वश होते हुए भी राजा को सबसे समान व्यवहार करना चाहिए, आप राजा हैं, अतः आप वैसा उपाय करो, जिससे पाण्डु के पुत्र और आपके पुत्र में भेदभाव न कर समानता से व्यवहार करो, वैसा उपाय कर जिससे सबको समान दीखने में आ जावे, यदि आप पूछो कि मैं विषमता का किनसे व्यवहार कर रहा हूँ ? जिसके उत्तर में अक्रूरजी कहते हैं कि पाण्डव और अपने पुत्रों से समान न चलकर भेदभाव से चलते हो, और 'च' शब्द से यह भी बताया है कि पाण्डवों के सम्बन्धियों में भी आप समभाव से नहीं चलते हैं, इस विषमता को छोड़ सबसे समभाव से व्यवहार करो ॥१९॥

आभास— एव लोकन्यायेन बोधयित्वा शास्त्रन्यायेनाह समाभ्यां त्रिभिस्त्रिभिस्तत्त्वं बोधयति **नेह चेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार लोक नीति के अनुसार राजा को ज्ञान देकर अब शास्त्र के न्याय से तीन-तीन श्लोकों में पूर्व के समान सतो, रजो तमो भाव से कहते हैं ।

श्लोक—नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित्केनचित्सह ।
राजन्स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥२०॥

श्लोकार्थ—कभी, किसी के साथ, यहाँ सदा स्थिति नहीं है, हे राजन् ! स्त्री और पुत्रादिकों की तो क्या बात है ? परन्तु अपना शरीर भी सदा साथ नहीं रहता है ॥२०॥

सुबोधिनी—स्वार्थं हि सर्वेण कर्तव्यम् । तद्यथा स्वार्थः सिद्ध्यति । तत्र कालो बाधक इति हितमहितं बहिरङ्गस्थापनार्थं यत्नो न कर्तव्य इत्याह इहास्मिंल्लोके अत्यन्तं सर्वदा केनापि सह **संवासः** कस्यचिदपि न । अलौकिकबोधने उग्रवचने बोधो न भवतीति कोमलवचनेन संबोधनं स्नेहज्ञापनार्थम्, ममतास्पदेन नास्त्येव संवास इहापि व्यभिचारदर्शनात्स्वदेहेन तु न व्यभिचारं पश्यतीति तत्राप्युपदिशति **स्वेनापि देहेनेति** । पुत्रादीनामपि देहः स्वस्यैवेत्यपिशब्दे निरूप्य तान्निर्दिशति । **किमु जायात्मजादिभिरिति** । आदिशब्देन भ्रातृपित्रादयः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि सब जो कुछ करते हैं, वह अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ही करते हैं, किन्तु उसमें काल बाधा करता है, इसीलिए जिस देहादिक को रक्षा आदि हम हित समझकर करते है, वह हित नहीं है, किन्तु अहित है, अतः बाहर के भाव की स्थापना करने के लिए यत्न नहीं करना चाहिए, जिसको समझाने के लिए कहते है कि इस लोक में सर्वदा किसी के साथ किसी की भी स्थिति काल करने नहीं देता है, जब अलौकिक ज्ञान देना होता है तब उग्रवचन कहे जावे तो बोध नहीं हो सकता है, अतः स्नेह दिखाने के लिए कोमल वचन से सम्बोधन दिया है, हे राजन् ! जिसमें ममता है, उसको

भी अपने साथ सर्वदा स्थिति नहीं रहती है, यदि उसमें व्यभिचार देखने में आवे तो कहते हैं कि जिस अपनी देह में कोई व्यभिचार नहीं देखता है, उस अपने देह को भी अपने साथ सदैव स्थिति काल करने नहीं देता है, तो जो पुत्रादिक की देह अपनी समझी जाती है, उनकी सदा स्थिति कैसे रहेगी आदि शब्द से भ्राता पुत्र आदि सब समझने चाहिए ॥२०॥

आभास—तत्र देहादात्मनो भेदज्ञाने सत्येतद्भवतीति देहादात्मानं भिन्नतया निरूपयति **एकः प्रसूयत** इति ।

आभासार्थ—यह सर्वदा स्थिति तब होती है, जब आत्मा को देह से भिन्न समझ उसमें स्थिति करे, इसलिए 'एकः प्रसूयते' श्लोक में देह से आत्मा की भिन्नता निरूपण करते हैं ।

श्लोक—एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही लीन होता है, अकेला ही पुण्य के फल सुख को भोगता है, तथा अकेला ही पाप के फल दुःख को भोगता है ॥२१॥

सुबोधिनी—'आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्यया'वितिन्यायेनानुभवपर्यन्त निरूपयति । **प्रसूयते** मात्रा । **प्रलीयते** भूमौ कालेन । एवमाद्यन्तयोरेकत्वमुक्त्वा उपलक्षणन्यायेन सर्वस्यैव क्रियामयस्यैककर्तृत्वं निरूप्य ज्ञानमात्मपर्यवसायीति कर्मणा भोगोप्येकस्यैवेत्याह **एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमिति** । सुकृतं पुण्यं कर्म, तस्य फल स्वर्गादि । कार्यकारणयोरभेदात्तथोच्यते । करणानन्तरमेव भोग इत्यनुशब्दार्थः । सुखभोगे बहूनामपि समवायोस्तीति हास्यक्रीडादौ तथा दर्शनात्। दुष्कृते एक एवेत्याह । चकारान्मिथः सङ्घेन कृतपापे मिथ एव भोग इति पक्षमङ्गीकरोति । दुष्कृतं पापं सुकृतवद्व्याख्येयम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—अपने पिता और पुत्र से जन्म और मरण का अनुभव लेना चाहिए, इस न्याय के अनुसार अक्रूर को जो इस प्रकार अनुभव हुआ है, उसका निरूपण करते हैं, माता से उत्पन्न होता है अर्थात् जन्म लेता है, काल के द्वारा भूमि में लीन हो जाता है, इस प्रकार आदि में, जन्म समय में और अन्त में लीन होने के समय में वही एक ही है, उपलक्षण न्याय से सर्व क्रियामय का एक ही कर्त्तापन निरूपण कर, ज्ञान का अन्त तो आत्मा में ही होता है, इस प्रकार कर्म से भोग भी एक ही करता है, जैसे कि एक ही पुण्य रूप कर्म जिसका फल स्वर्ग आदि है, पुण्य रूप कर्म कारण है और स्वर्ग आदि फल कार्य है, कार्य और कारण का अभेद है, जिससे केवल 'सुकृत' कहा है, श्लोक में 'अनु' शब्द कहने का तात्पर्य है कि कर्म करने के अनन्तर फल का भोग किया जाता है, पुण्य के फल रूप सुख के भोग के समय अन्यों का भी मिलन होता है, जैसे कि हास्य क्रीड़ा आदि में देखा जाता है, किन्तु दुष्कृत अर्थात् पाप के फल दुःख के भोग में तो अकेला ही दुःख भोगता है, 'च' शब्द देने का आशय यह है कि यदि पाप मिलकर किया है, तो दुःख भी साथ ही भोगना पड़ता है, अतः दुष्कृत की भी सुकृत के समान व्याख्या करनी चाहिए ॥२१॥

आभास—सुखार्थं सुखसाधनार्थं वा पापं न कर्तव्यमित्याह अधर्मोपचितमिति ।

आभासार्थ—सुख अथवा सुख के साधनों के लिए पाप नहीं करना चाहिए, यह 'अधर्मोपचितं वित्तं' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः ।**
संभोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥२२॥

श्लोकार्थ—मूर्ख का अधर्म से सञ्चय कर, बढ़ा हुआ धन, दूसरे पुत्र आदि पालने योग्य है, इस मिष (बहाने) से ले जाते है, जिससे धन ले जाने पर जैसे जल के जीव जल के अन्यत्र चले जाने पर जल बिना दुःखी होते हैं, वैसे यह मूर्ख भी अकेला हो, दुःखी होता है ॥२२॥

सुबोधिनी—**अधर्मेण उपचितं पुष्टम्**, अर्थस्योत्पत्तिर्धर्मेणैव उपचयस्त्वधर्मेणापि भवति । तथा सति प्रवृद्धो रोषः, अन्य एव अधर्मिष्ठा अधर्मप्रेरिता वा दैन्या हरन्ति, प्रतिरोधे सामर्थ्याभावमाह । **संभोजनीयापदेशैरिति** । संभोजनीयाः संबन्धिनः, अतिलुब्धोपि सम्बन्धरक्षार्थं तान् भोजयति । अनपेक्षितं बहुत्वान्नयन्तीत्याशङ्क्य तस्मिन् हृते जीवनमेव यातीत्यत्र दृष्टान्तमाह **जलानीव जलौकस** इति । जलौकसो मत्स्यादेः प्राणभूतमपि जलं कुल्याभिर्हरन्ति । ज्ञानं चेद् भवेत् तद्द्वारान्यत्र गच्छेदज्ञानमात्रे जीवनरूपोयमर्थ इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—धन की उत्पत्ति धर्म से होती है अर्थात् धन धर्म से प्राप्त होता है, किन्तु उसकी वृद्धि अधर्म से भी हो सकती है, तो जो धन अधर्म से बढाया हुआ है वह देखकर अन्य जनता में रोष बढता है जिससे वे दूसरे जो अधर्मी वा अधर्म से प्रेरित लूटेरू है वे धन छीन लेते हैं अपने में सामर्थ्य न होने से उनको रोक कर धन बचाया नहीं जा सकता है, और धर्म की वृद्धि के समय धनी के मन में यह विचार होता है कि सम्बन्धियों को खिलाना चाहिए, धनी अतिशय लोभी होवे तो सम्बन्ध बना रहे इसलिए संबन्धियों को भोजन कराता है, धन के मद में कहता है कि मुझे अपने धन की अपेक्षा नहीं है, भले ये ले जावें इस प्रकार की प्रवृत्ति से धन का क्षय हो जाता है जिससे उसका जीवन ही नष्ट वा दुःखी होता है । इसको समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं, जैसे जल के जीव मत्स्य आदि का जल ही प्राण है, अतः वे नदी में ही रहते हैं, उस नदी का जल नहरों द्वारा मनुष्य अन्यत्र ले जाते हैं किन्तु जो जल के जीव समझते हैं वे उन नहरों द्वारा वहां चले जाते हैं जो बे समझ हैं, वे वहां ही जल के बिना अकेले रहने से दुःखी वा नष्ट होते हैं, वैसे ही अधर्म से बढाये हुए धन वाला भी धन लुट जाने पर नष्ट होता है ॥२२॥

आभास—पश्चादुपकरिष्यन्तीत्याशङ्क्याह पुष्णातीति ।

आभासार्थ—यदि मैं अब धन देकर उनका पोषण आदि करूंगा तो बाद में वे मेरा उपकार करेंगे, इस विचार का 'पुष्णाति' श्लोक में खण्डन करते हैं—

श्लोक—पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् ।
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥२३॥

श्लोकार्थ—मनुष्य जिनको अपना समझ अधर्म से पालन करता है, वे प्राण, धन और पुत्र आदि उस मूर्ख को उपकार किए बिना पहले ही दुःखी अवस्था में छोड़ देते हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—अन्यमप्युपक्रम्य पर्यवसानेन पुत्रपर निरूपयति स्वबुद्ध्या स्वीया इति बुद्धिमात्रं वस्तुतः शत्रव एव । अन्यथा उपकारमेव कुर्युः । ते न बलात्कारेण तथा कुर्वन्तीति ज्ञापयितुमपण्डितमित्युक्तम् । ननु लौकिकं वैदिकं नित्यं कर्म कर्तव्यमिति तदर्थं ते भोजिता इति चेत्तत्राह अकृतार्थमिति । 'सभोजनो नाम पिशाचभिक्षे'ति वाक्यान्न तेषां दानं परलोकाय, इह लोके भवत्युपकारः यदि ते उपकारं मन्येरन्, तदपि नास्तीत्यकृतार्थतैव । किञ्च । अवसरे प्राप्ते प्रकर्षेण हिन्वन्ति सङ्कटस्थाने स चार्थस्तं त्यजन्तीत्यर्थः । तान् बाह्याभ्यन्तरांस्तुल्यतया निर्दिशति प्राणा रायः सुतादय इति । आन्तराः बाह्याः मध्ये उभयोपयोगिनश्च, आदिशब्देन सर्व एव बाह्या गृहीताः, प्राणा इन्द्रियाणि आसन्यव्यतिरिक्ताः प्राणाः, आसन्यो हि सर्वान्पोषयति न तु तं कश्चन । ननु 'अनुप्राणन्ति यं प्राणाः' 'अण्डेषु पेशिष्वि'त्यादिवाक्यैः प्राणानामिन्द्रियाणां चामुक्तेर्वियोगो न श्रूयते । मुक्तौ तु कृतार्थतैवेत्यकृतार्थवचनं बाधितमिति चेत्, सत्यम् । चर्षणीनां जीवनां सहगमनं, न स्थिरजीवानां, अन्यथा पुरञ्जनोपाख्याने प्राणादिसहिते देहे जीवप्रवेशवचनं बाधितं स्यात् । यथा प्रवेशस्तथा निर्गम इति, प्रथमप्रवेशोयमिति चेत्, नैवम् । 'वीरसूरपि नेष्यती'ति वाक्यात्, अस्तु वा, तथा सति प्राणभूता राय इति व्याख्येयम् । 'अर्था बहिश्चराः प्राणा' इति, अनेन सिद्धान्तद्वयं निरूपितम् । उत्क्रमणे सहैव गमनमत्रैव परित्याग इति च, यतः श्रुतौ द्वयमप्युक्तम् । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोनूत्क्रामति' प्राणा उत्क्रामन्त्युताहो नेति प्रश्ने नेत्याह याज्ञवल्क्यः । 'इहैव समवनीयन्ते प्राणा' इति 'यतो मृतो ध्मातः शेत' इति, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' तु प्रक्रियान्तरम् । अतः क्रममुक्तौ ऊर्ध्वगमने च सङ्घः सर्वोपि गच्छति । जायस्व म्रियस्वेति पक्षे सद्योमुक्तौ च न गच्छतीति सिद्धान्त इति सर्वमविरुद्धम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्रारम्भ तो अन्य से करते हैं किन्तु अन्त में उन सबों को पुत्र पर ही लाकर समझते हैं, ये सब अपने हैं । मित्र व सम्बन्धी हैं, वैसी बुद्धि जो होती है वह केवल विचार मात्र ही है, वास्तव में वे मित्र नहीं है किन्तु शत्रु हैं यदि शत्रु न हो तो उपकार करें, उपकार न करने से निश्चय से समझना चाहिए वे शत्रु ही हैं, शत्रु होते हुए भी वे बलात्कार से उसका धन छीनते नहीं है किन्तु उसकी मूर्खता का लाभ उठाते हैं, लौकिक, वैदिक नित्य कर्म तो करना ही चाहिए, इसलिए उनको भोजन कराना ही पड़ा यदि यों हो तो उसका उत्तर यह है कि इस प्रकार का भोजन दान रूप नहीं है जिससे परलोक में लाभ हो किन्तु यह भोजन पिशाच भिक्षा के समान है । इस प्रकार के भोजन से इस लोक में उपकार हो सकता है यदि वे कृतज्ञता दिखावें, वह भी नहीं है, जिससे इस किए का कोई फल नहीं है, न केवल इतना ही है किन्तु प्रसंग आने पर किसी भी आपदा के समय त्याग देते हैं । अब बाहर के और भीतर के सब समान हैं । यह बताते हैं प्राण, धन और पुत्र आदि

है,अन्दर के,बाहर के ये मध्य में दोनों के उपयोगी होते है, आदि शब्द कह कर यह बताया है कि बहार के सब ही ग्रहण किए हैं। प्राण शब्द से इन्द्रियों को समझना चाहिए; क्योंकि उनका पोषण किया जाता है। आसन्य प्राण मुख्य प्राण है वह तो स्वयं का पोषण करता है उसका कोई पोषण नहीं करता है। 'अनुप्राणन्तिः' 'अण्डेषुपोशिषु' इत्यादि वाक्यों में कहा है कि जब तक मुक्ति नहीं होता है तब तक प्राण और इन्द्रियों का आपस में वियोग नहीं होता है। मुक्ति होते ही कृतार्थता होती है, तदनुसार आपका 'अकृतार्थ' कहना बाधित है, यदि यों कहते हो तो, वह सत्य है; किन्तु प्रत्येक विषय को प्रकरणानुसार समझना चाहिए. जीव दो प्रकार के हैं। एक 'चर्षणी' जोव हैं जिनकी हमेशा एक लोक से दूसरे लोक में जाकर क्रम मुक्ति होती है। दूसरे स्थिर जीव हैं जिन जिनको लोकान्तर में जाना नही पड़ता है उनकी यहां ही मुक्ती हो जातो है। यदि यों न माना जाएगा तो पुरञ्जन के उपाख्यान में जो कहा गया है, कि देह में प्राणादि के होते ही जीव प्रवेश करता है अर्थात् देह में जीव ने एकाकी प्रवेश किया है, जैसे एकाकी प्रवेश वैसे ही एकाकी निर्गमन होता है इसका बाध होगा, इससे इसको प्रथम प्रवेश मान लो, यों भी नहीं हो सकता है क्योंकि 'वीरसूरपि नेष्यति' वाक्य से विरोध होगा, अतः यदि यों मान भी लिया जावे तो राय अर्थात् धन भी बाहर के प्राण हैं, जैसे कि कहा है,'अर्था बहिश्चरा प्राणाः'यों कहकर दो सिद्धान्त बताए हैं,एक शरीर से प्राणी का उत्क्रमण होने के पक्ष में साथ में अन्योंका भी निकलना और दूसरा उत्क्रमण न हो कर यहां ही लीन हो जाने पर यहां हो सर्व का त्याग, क्योंकि श्रुति में दोनों प्रकार कहे हैं, क्रम मुक्ति के अधिकारी चर्षणी जोव के देह त्याग के समय प्राण आदि साथ जाते हैं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इस श्रुति के अनुसार सद्यो मुक्ति के अधिकारी स्थिर जोव के प्राण आदि साथ में नहीं जाते हैं, अतः इस प्रकार समझने पर कोई विरोध नहीं रहता है स्थिर जीव सद्योमुक्ति योग्य बनता है वह प्राणादि को अयोग्य बनाकर यहां ही छोड़ता है वह योग्य ही है ॥२३।

आभास—अयुक्तत्वाद् गच्छतीति युक्त एवास्य परित्यागः। यथा यो वधार्थं नीयते स केवलो नीयते यो विवाहार्थं नीयते ससामग्रीक इति तदाह **स्वयं किल्बिषमादायेति**।

आभासार्थ—जैसे, जिसको मारने के लिए जब लेकर जाते हैं तो उसको अकेला ही ले जाते हैं किन्तु विवाह के समय तो बरात (जान) के साथ बाजे गाजे के लाया जाता है जिसका वर्णन 'स्वयं किल्बिष' श्लोक में करते है—

श्लोक—स्वयं किल्बिषमादाय तस्त्यक्तो नार्थकोविदः।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥२४॥

श्लोकार्थ—उन प्राण आदि से त्यागा हुआ और सच्चे अर्थ को न समझने वाला वह मूर्ख, प्रयोजन भी सिद्ध न कर स्वधर्म से विमुख हो, अपने किए हुए पाप को साथ लेकर अन्धतम में प्रवेश करता है ॥२४॥

सुबोधिनी — तदुपार्जनपोषणाभ्यामुपार्जितं पापं गृहीत्वा तैः प्राणादिभिस्त्यक्तः अन्धंतमो विशति। ऊर्ध्वगतौ तु न त्यजन्तीति ज्ञापयितुं **नार्थकोविद इत्युक्तम्**। अन्यथा योगशास्त्रं व्यर्थं स्यात्। 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि स' इत्यादिवाक्यात्। अतस्ताद्दशेन्द्रियाणां हिताचरणं युक्तम्। यदप्युक्तम् 'नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता' इति तद्विषयैः संसारमात्रे प्रवेशनमुक्तम्। न तु हीनगतिः। अत इन्द्रियाणां स्वभावभेदस्य दृष्टत्वात् 'निकृष्टैः कर्मभिर्नित्यं जन्तुः स्थावरतां याती'त्यादिवाक्यादपुनरावृत्त्यधोगमनमार्गे परित्याग एव, मुक्तिव्यावृत्त्यर्थमसिद्धार्थ इति, भगवदिच्छया सद्योमुक्तौ निरुद्धगोपिकावत्सहगमन नास्तीत्यर्थकोविदत्वाभावेऽपि परित्यागो वर्तत इति व्यावर्तकं पदद्वयमपि मृग्यम्। **अन्धंतमो** हि अपुनरावृत्तितमः 'अन्धंतमः प्रविशन्तो तिश्रुतिरपि, केवलेन्द्रियपोषका एव संभूतिमुपासत इति श्रुतिराह 'सविद्यामुपासत' इति च। ज्ञानरहितं प्रमाणबहिर्भूतं यत्कर्म लौकिकं निषिद्धं च तेन तम एव। ज्ञानसहितं तु कर्म वैदिकम्। 'य एवास्मि स सन् यज' इत्यादिश्रुतेः तस्य मोक्षफलत्वम् एतज्ज्ञापयितुमाह **स्वधर्मविमुख** इति। तस्मात् स्वधर्मानुसारेण भोगः कर्तव्यः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—धन के उपार्जन करने और बढ़ाने में जो पाप का संचय किया है उसको साथ में लेकर अन्धंतमः में जाता है, प्राण आदि सब उसको छोड़ देते हैं कोई साथ नहीं चलता है, यदि उसकी गति उच्च होवे तो प्राण आदि सब उसके साथ जाते है छोड़ते नहीं है, यह बताने के लिए कहा है कि यह अर्थ को नहीं जानता है, यदि इस प्रकार न माना जावे तो योग शास्त्र व्यर्थ हो जावे, जैसा कहा है पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपिसः' कि वह उस पूर्वाभ्यास से ही खींचा जाता है स्वयं अवश हो जाता है, अतः वैसी अन्तर्मुख इन्द्रियों का हित ही करना चाहिए न कि उन इन्द्रियों का जो संसार के आवेश के कारण दुष्ट हो गई है-इसलिए कहा हैं कि इन्द्रियों को अन्तर्मुख न करने वाले प्रमत्त को असत् इन्द्रिय रूप घोड़े रथी सहित उलटे मार्ग पर ले जाकर विषय रूप चोरों के पास फेंक देते हैं, उन विषय रूप चोरों के आधीन होने से वह प्रमत्त संसार में प्रविष्ट हो जाता है, न कि हीन गति पाता है, अतः इन्द्रियों के भिन्न भिन्न स्वभाव होने से स्वभावानुसार कर्म करने से वैसा फल मिलता है जैसा कि 'निकृष्टैः कर्मभिर्नित्यं जन्तुः स्थावरतांयाति' निन्दित नीच कर्म करने से जीव स्थावर योनि को नित्य पाता है अतः वैसे पुरुष का 'अपुनरावृत्ति अथवा अधो मार्ग गमन' दोनों में त्याग करना चाहिए, ऐसे पुरुष की मुक्ति न हुई अथवा होगी नहीं.इसलिए इसको 'आसिद्धार्थ' कहा गया है. जिन भक्तों की भगवदिच्छा से 'सद्योमुक्ति' होती है उनके भी प्राणादि साथ नहीं जाते हैं यहां ही लीन हो जाते है जैसे निरुद्ध गोपियों के, वे अर्थ कोविद न होते हुए भी उनमें परित्याग तो है ही, अतः इस पक्ष को पृथक् करने वाले दोनों पदों का विचार करना चाहिए, अर्थात् उनका आशय समझना चाहिए जैसे मुक्ति में अपुनरावृत्ति है वैसे ही अन्धंतम में जाने पर भी अपुनरावृत्ति है अर्थात् जिसका अन्धतम में प्रवेश होता है वह लौट के नहीं आता है जैसे 'अन्धतम प्रविशन्ति' श्रुति में कहा है और केवल इन्द्रियों का पोषण करने वाला ही 'सम्भूति' की उपासना करता हैं जैसे श्रुति कहती है 'अविद्यामुपासते' बिना ज्ञान के तथा जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है वैसा जो लौकिक और निषिद्ध कर्म है उसको जो करता है वह तम को ही प्राप्त होता है, ज्ञान के साथ जो कर्म किया जाता है वह वैदिक कर्म हैं, 'य एवास्मि स सन् यजे' इस श्रुति के अनुसार स्वरूप को समझकर जो यज्ञ आदि कर्म किया जाता है उसका फल 'मुक्ति' है इसको जताने के लिए कहते हैं कि आप स्वधर्म से विमुख हो के जो कर्म करते हैं वह न स्वधर्म के अनुकूल सर्व भोग आदि करो ॥२४॥

आभास—धर्मो ज्ञानसहित इति धर्मसहितश्च भोग इति बुद्धिमांस्तादृशमेव कुर्यादित्याह **तस्माल्लोकमिममिति** ।

आभासार्थ—बुद्धिमान को ज्ञान सहित धर्म को और धर्म सहित भोग को करना चाहिए जिसका वर्णन 'तस्माल्लोकमिमं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तस्माल्लोकमिमं राजन्स्वप्नमायामनोरथम् ।
वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इसलिए इस लोक को स्वप्न, माया एवं मनोरथ के समान जानो, आत्मा से आत्मा को वशकर हे प्रभु ! शान्त तथा समदृष्टि बनो ॥२५॥

सुबोधिनी—लोकानुसारेण पुत्रानुसरणं कर्तव्यमिति लोको निद्यन्ते **स्वप्नमायामनोरथत्वेन, स्वप्नस्तामसः माया राजसी, मनोरथः** सात्त्विकस्तथोत्कर्षापन्नमपि जगन् न चिरकालावस्थायीति तदनुरोधेन तु न पुरुषार्थो नाशनीयः, उत्पत्तौ सिद्धायां मरणेऽपि सिद्धे पूर्वं पश्चाच्च नानेन सङ्घातेन सह स्थितः स्थास्यतीति सिद्धत्वात् स्वप्नादितुल्यत्वं युक्तमेव अनेनोत्कृष्टमिदं राजशरीरमित्यपि परिहृतम् । एवं **वीक्ष्य** पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनैवात्मानं सङ्घातव्यतिरिक्तं ज्ञात्वा देहसबन्धिष्वप्युदासीनो भवेत्याह **सम** इति । नन्वेवं पर्यालोचना कथं भविष्यतीत्याशङ्क्यायामाह **शान्तो भवेति** । नन्वेवमुपाये कथं न सर्वे भवन्तीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति । त्वं समर्थो विवेकी न त्वन्ये अविवेकिनः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी धृतराष्ट्र के इस 'लोक के अनुसार पुत्र का कहना भी मानना चाहिए' शङ्का का उत्तर देते हैं कि यद्यपि लोक भी यों कहता है किन्तु वह लोकभी स्वप्न,माया और मनोरथ की भांति चिरकाल नहीं रहता है तो उसका अनुसरण कर अपना पुरुषार्थ क्यों नाश किया जाय ? 'स्वप्न' तामस है 'माया' राजस है और 'मनोरथ' सात्विक है, इस प्रकार जगत् उत्कृष्ट और अपकृष्ट होते हुए भी स्थिर नहीं है, उत्पत्ति भी होती है और मरण भी होता है किन्तु पहले वा पश्चात् इस देह के साथ स्थिति तो रहने की नहीं है अर्थात् यह देह तो पृथक् ही है अतः त्यागनी ही है, इसलिए देह को स्वप्न आदि तुल्य कहना उचित ही है, यों कहकर राजा को यह समझाया कि यह राजा का शरीर उत्तम है ऐसा विचार हृदय से निकालदो, अर्थात् इस प्रकार समझकर अन्तः करण से निश्चय करलो कि यह आत्मा देह से पृथक् है, इसमें तथा इससे सम्बन्ध रखने वाले पुत्र आदि में भी उदासीन[१] होकर रहो इसलिए कहा है कि सम होके रहो, यदि सम होकर रहा जाय तो फिर यह मुझे करना है वैसा विचार हो नहीं सकेगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'शान्त' हो जाओ, यदि शान्त होना ही उपाय है तो सब यों क्यों नहीं करते ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'प्रभु' हो अर्थात् आप विवेक वाले तथा यों कर सकने में समर्थ हैं,दूसरे समर्थ नहीं है क्योंकि विवेक वाले नहीं हैं ॥२५॥

१— प्रेम निकाल कर ।

आभास—एवमुपदेशे ज्ञाने सन्तुष्टः सन् धृतराष्ट्र उत्तरमाह **यथा वदतीत्यादिचतुर्भिः**।

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञान का उपदेश मिलने से धृतराष्ट्र संतुष्ट होकर 'यथावदति' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—धृतराष्ट्र उवाच—**यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान्।**
तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—धृतराष्ट्र कहने लगे कि हे दानपते! आप अमृत वाणी बोलते हैं, जिससे मैं इस प्रकार तृप्त नहीं होता हूँ, जैसे मनुष्य अमृत से तृप्त नही होता है ॥२६॥

सुबोधिनी — एवं व्यासेनाप्येतादृशमुक्तं भीष्मेणान्यैश्च तत उपदिष्टं ज्ञानं क्षणमात्रमेव तिष्ठति पश्चादन्यथैव प्रवर्तते। पुनरुपदिष्टे पश्चात्तापसहितं ज्ञानं भवति। तदपि न तिष्ठतीति पुनरन्यथैव प्रवर्तते। एवमनेकपर्यायेऽस्मन्मनसोयमेव स्वभाव इति निश्चित्य पश्चात्तापो निवृत्तस्ततः प्रभृति ज्ञानमपि मन्यते वैषम्यमपि करोतीमं सिद्धान्तमतो न जानातीति तं प्रति बोधयतीति, तदास्यानिष्टं भवेद् यदि पुत्रनाशं नाङ्गीकुर्यात्तदा स्वस्व दोषो भवेत्, परं स्वयं कर्तुं न शक्तो नाप्यन्यः किन्त्वीश्वर एवेति तस्याभिप्रेतम्। अनेनास्य युद्धोद्यमोपि निवारितः। हे **दानपते** दानाध्यक्ष। धर्मशास्त्रे स्वयमेव निपुण इति, अनेन त्व धर्ममेव जानासि। न तु कालम्, स्वभावमीश्वरेच्छां वा, परं यद्वदसि तत्कल्याणीमेव **वाचं** वदसि। सत्या मनोहरा च। 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूया'दिति स्मृतेः। यतस्त्वं दानपतिरिति। अद्यापि तव वचनश्रवणे श्रद्धा वर्तत इत्याह **तथानयेति**। तथाभूतयानया वाण्या **न तृप्यामि**। अलमिति न मन्ये। स्वस्य तद्वाक्यमपेक्षितमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **मर्त्यः** मरणधर्मा **यथामृतं प्राप्य** न तृप्यतीति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार व्यासजी, भीष्मपितामहजी तथा अन्योंने भी उपदेश दिया है वह ज्ञान मन में क्षण मात्र ही स्थिर रहता है अनन्तर मन उस ज्ञान के विपरीत ही आचरण करने लगता है फिर उपदेश मिलता है तो विपरीत कार्य करने के लिए पश्चाताप होता है और मन को ज्ञान भी आ जाता है किन्तु वह भी स्थिर नहीं रहता है जिससे मन फिर उल्टे मार्ग पर चलने लगता है यों अनेक बार होने से मैंने समझ लिया कि हमारे मन का यही स्वभाव है, जब यह निश्चय हो गया तब पश्चाताप निवृत्त हो गया, अब मन ज्ञान को भी मानता है किन्तु तदनुसार न चलकर विषमता भी करता है, इस सिद्धान्त को जो नहीं समझता है उसको यह सिद्धान्त समझाता है।

धृतराष्ट्रजी के कहने का तात्पर्य यह है कि, जब वह यों करता है तो उसका अनिष्ट होता है, मैं पुत्र का नाश नहीं चाहता हूँ तो मेरा अपना दोष होता है किन्तु जीव स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं है और न कोई दूसरा कुछ भी करने में समर्थ है, जो कुछ करना कराना है उनमें ईश्वर ही समर्थ है, धृतराष्ट्र ने यों कहने से यह बता दिया कि युद्ध का उद्यम मैं करा रहा हूँ, यह विचार गलत है।

हे दानाध्यक्ष ! आप धर्म शास्त्र को अच्छी तरह जानते हैं, जिससे आप धर्म को जानते हैं, किन्तु काल, स्वभाव एवं ईश्वर इच्छा को नहीं जानते हैं, परन्तु जो वाणी बोलते हो वह सत्य और प्रिय है, स्मृति में भी कहा है कि सत्य कहना किन्तु वैसा सत्य कहना जो सुनने वाले को प्रिय लगे, आप वैसे ही बोल रहे हो, कारण कि दानपति हो, इसलिए अभी भी आपके वचन श्रवण करने में श्रद्धा है, आपकी इस वाणी से मुझे तृप्ति नहीं होती है, मैं नहीं चाहता हूँ कि अब मत कहो मैं तो फिर भी सुनना चाहता हूँ जैसे मरण धर्म वाला मनुष्य अमृतपान से तृप्त नहीं होता है, चाहता है कि और भी पीवूं ॥२६॥

आभास—यथा गङ्गायां सज्वरोपि श्रद्धावान् गङ्गास्नानेन न तृप्यते परं तस्य शरीरं न सहते तथा मम मन इत्याह **तथापीति** ।

आभासार्थ—ज्वर वाला पुरुष श्रद्धालु होने से गङ्गा में स्नान करते हुए तृप्त नहीं होता है किन्तु उसका शरीर स्नान को सहन नहीं कर सकता है, वैसे ही मैं तो आपकी ज्ञान रूप वाणी सुनने से तृप्त नहीं होता हूँ किन्तु मेरा मन उसको सुनना अथवा करना नहीं चाहता है, 'तथापि' इस श्लोक में इस बात को कहते हैं—

श्लोक—तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।
पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामिनी यथा ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! जो कि आपकी वाणी सुन्दर है तो भी पुत्र के प्रेम के कारण विषम हुए चञ्चल मन में वह वैसे नहीं ठहरती है, जैसे सुदामा पर्वत की बिजली नहीं ठहरती है ॥२७॥

सुबोधिनी—**सूनृता** सत्यरूपा सतां मनसि यद्यपि तिष्ठति मनसो हि भार्या सा । तथापि चञ्चले मनसि वेश्यारते भर्तरीव हृदि चञ्चले सति **न स्थीयते** । चाञ्चल्यमात्रे तदनुगुणकार्यकर्तरि तिष्ठेतापि तदपि नास्तीत्याह **पुत्रानुरागविषम** इति । पुत्रानुरागेण विषमं जातं यथा जलप्रवाहेण भूमिर्निम्नोन्नता भवति । यथा मालाकारा विद्युत् क्षणमपि न तिष्ठति दण्डाकारा तु क्षणं दृश्यतेपि । अत उक्तं **विद्युत्सौदामिनी यथेति** । सौदामिनी विद्युदिति प्रत्येकसमुदायाभ्यां वा विद्युद्वाचकम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—जो कि सत्पुरुषों के मन में सत्य रूप वाणी ठहर जाती है क्योंकि वाणी मन की स्त्री है, तो भी जैसे स्त्री का मन, वैश्या प्रेमी पति में नहीं ठहरता है वैसे मेरे इस चञ्चल मन में चञ्चलता के कारण आपकी सत्य वाणी नहीं ठहरती है, चञ्चल होने पर भी यदि वाणी के योग्य काम करने वाला हो तो भी उसमें स्थिर हो जावे, किन्तु यहां वह भी नहीं है जैसे जल के प्रवाह से भूमि नीचे ऊपर होकर विषम बन जाती है वैसे ही मेरा मन भी पुत्र के प्रेम प्रवाह के कारण विषम बन गया है,जिससे आपकी वाणी मेरे मन में वैसे नहीं ठहरती है जैसे माला के आकार वाली सुदामा पर्वत

की बिजली क्षण मात्र भी नहीं ठहरती है। दण्ड के आकार वाली तो क्षण मात्र देखने में भी आती है विद्युत तथा सौदामिनी दोनों शब्द बिजली के वाचक हैं ॥२७॥

आभास—तर्हि यत्नः कथं क्रियते चित्तवृत्तिनिरोधस्य योगस्य विद्यमानत्वादिति चेत्तत्राह **ईश्वरस्येति**।

आभासार्थ—जब चित्त वृत्ति का निरोध कराने वाला योग विद्यमान है; तब यत्न क्यों करते हो ? जिसका उत्तर 'ईश्वरस्य' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान्।
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥२८॥

श्लोकार्थ—जिस ईश्वर ने पृथ्वी का भार उतारने के लिए यदु के कुल में अवतार लिया है, उसके करने की विधि को अन्यथा करने की किस पुरुष में शक्ति है?॥२८॥

सुबोधिनी–ईश्वरेण कश्चन प्रकारो विहितः। एवं प्रकारेणैवैतत् कर्तव्यमिति। तत्कोन्यथाकर्तुं शक्तः। एतद्विज्ञानमावापोद्वापाभ्यां परिश्रमेण भवति, तस्मिन् कृते ज्ञायत इति न काप्यनुपपत्तिः। एवं ज्ञात्वा को वा विवेकी पुमान् समर्थोपीश्वरविचारितं प्रकारं विशेषेण धुनोत्यपि दूरीकरोति। कम्पितं वा करोति। नन्वीश्वर उदासीनो, 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभु'रिति वाक्यात्। अज्ञानेनैव तथाचित्तं जायते। नत्वीश्वरस्तथा करोतीति चेत्तत्राह **भूमेर्भारावतारायेति**। भगवान् भूभारहरणार्थमवतीर्णः अन्यथाऽवतारमेव न कुर्यादतो ज्ञायते भगवता अन्यः प्रकारो विचारित इति। नन्वेतदपि नाङ्गीकर्तव्यं वाक्यविरोधात्। अतोवतारस्य प्रयोजनान्तरमनवतरणं वा कल्पनोयमिति चेन्न। तथा सति शास्त्रवैफल्यात्, सर्वमुक्तिर्वा प्रसज्येत। अतोधिकारपरं शास्त्रमित्यपि पक्षे यथा सर्वगुणसंपत्तिर्मयि तथा न कस्यापीति सर्वेषामनाश्वास एव स्यात्। अतो व्यभिचारादीश्वरेच्छा स्वतन्त्रेति वक्तव्यम्। एवमपि शास्त्रवैफल्यमिति चेत्। सत्यम्। न सर्वत्र शास्त्रं प्रमाणम्। किन्तु क्वचिदेव यत्रेश्वरेच्छा, यथोक्तसाधनेऽप्यजननात्। अतः सर्वत्र शास्त्रमेव प्रमाणं यदि शास्त्रानुसारेणापि कदाचिन्न भवति तदेश्वरविधिरिति कल्प्यते। यथा मण्यादिप्रतिबन्धे दाहाभावाच्छक्तिः परिकल्प्यते सा अग्नौ मणौ वेत्यत्र वयमुदासीनाः। तथा तादृशस्थले ईश्वरेच्छा नियामिकेति ज्ञातव्यम्। ईश्वरत्वादेव न पर्यनुयोगः, लोके च महाराजाज्ञादिषु सामान्यविशेषभावः श्रूयते सर्वतो निरुपद्रुतेऽपि देशे कस्यचिदुपद्रवो महाराजेच्छया भवतीति, न चैतावता सामान्याज्ञया निष्कण्टकं राज्यं विरुध्यते। अतो निमित्तभूतानस्मदादीन्न मर्यादायां स्थापयतीति युक्तमेव ज्ञातेऽपि शास्त्रे वैषम्यम्। अन्यथा भगवान् यदोः कुलेऽवतीर्णो न भवेत् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—ईश्वर ने प्रथम ही यह निश्चित निर्णय कर लिया है कि इस कर्तव्य को इस प्रकार से करना है उसको अन्यथा करने में कौन समर्थ है, अर्थात् कोई नहीं, यह विज्ञान तब प्राप्त

होता है जब मनुष्य वृक्ष बोने के लिए पहले आल वाल बनाए, अनन्तर उसमें बीज बोने का कार्य करे यों परिश्रम करने से जैसे इस विषय का ज्ञान हो जाता है वैसे ही यहां भी विधि अनुसार परिश्रम करने से जाना जा सकता है, इसमें किसी प्रकार को अनुपपत्ति नहीं है, इस प्रकार करने से विवेकी मनुष्य समझ जाता है कि ईश्वर के विचारित कर्तव्य को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है और न उसको स्वल्प भी हिला सकता है, 'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ईश्वर किसी का पाप वा पुण्य ग्रहण नहीं करते हैं अतः वे उदासी नहीं रहते हैं, इसलिए पुत्र प्रेम से चित्त का विषम बनना तो अज्ञान से होता है, यदि कहो कि ईश्वर वैसा करते हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'भूमेः भारावताराय' भगवान् ने अब भूमि के भार को उतारने के लिए अवतार धारण किया है, यदि यों न होवे तो अवतार ही धारण न करे, जिससे समझा जाता है कि भगवान् ने अन्य प्रकार विचारा है, इसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि यों स्वीकार करने से 'यदा यदा ही धर्मस्य' वाक्य का विरोध होगा, अतः अवतार धारण करने का कोई दूसरा कारण होगा अथवा अवतार हुआ ही नहीं है यों कल्पना करलो, यदि यों कहो तो यों नहीं है यों मान लेने से शास्त्र निष्फल हो जावेंगे, अथवा सब की मुक्ति हो जावेगी, यदि कहो कि शास्त्र अधिकार पर है तो इस पक्ष में भी दूषण है, जैसे वह मान लेता है कि सर्व गुणों की सम्पत्ति मुझ में है वैसी दूसरे में नहीं है, इस प्रकार कहने से सबों का, शास्त्र से विश्वास ही न रहेगा। अतः व्यभिचार होने से अर्थात् शास्त्र में ही अविश्वास होने से ईश्वर की इच्छा स्वतन्त्र है यों मान लेना चाहिए, यदि कहो कि यों मानने पर शास्त्र की विफलता होगी तो इसके उत्तर में कहा जाता है आप का कहना सत्य है किन्तु शास्त्र सर्वत्र प्रमाण नहीं हो सकता है किन्तु जहां ईश्वर की इच्छा होती है वहां शास्त्र प्रमाण होता है, जसे साधन करते हुए भी फल की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु ईश्वर की इच्छा होवे तो साधन से फल की प्राप्ति हो जावे। यद्यपि शास्त्र ही सर्वत्र प्रमाण है किन्तु कदाचित शास्त्रानुसार कर्तव्य करने पर भी जब फल नहीं होता है तब ईश्वर के इच्छा की कल्पना की जाती है अर्थात् शास्त्रोक्त साधन तो किए किन्तु ईश्वर की इच्छा फल देने की नहीं है इस प्रकार के भाव अन्तःकरण में स्वतः उदय हो जाते हैं जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, अग्नि जल रही है वहां मणि रखने से अग्नि शान्त हो जाती है तब किसी शक्ति को कल्पना करनी पड़ती है वह शक्ति कहां से मणि में वा अग्नि में आई इस विषय में अपन उदासीन हैं अर्थात् कुछ कह नहीं सकते हैं, ऐसे स्थल पर ईश्वर की इच्छा ही नियामक है यों समझना चाहिए, ईश्वर होने से उस पर हम दबाव तो डाल नही सकते है, लोक में भी महाराजा की आज्ञा दो प्रकार की होती है एक सामान्य दूसरी विशेष आज्ञा, जैसे कि देश सर्व प्रकार उपद्रव रहित होने से शान्त और सूखी है किन्तु कोई व्यक्ति महाराजा की इच्छा से दुःखी होता है, इस प्रकार की महाराजा को इच्छा से जो आज्ञा है जिससे राज्य तो निष्कण्टक चलता ही रहता है किन्तु केवल वह व्यक्ति दुःखी है यह विशेष आज्ञा है, अतः अपनी इच्छानुकूल कार्य करने के लिए हम लोगों को निमित्त बनाते हैं जिससे हम मर्यादा में नहीं रहते हैं और शास्त्र जानते हुए भी विषमता करते हैं वह योग्य ही है, जो यों न होवे तो भगवान् यदुकुल में अवतार ही न लेवे ॥२८॥

आभास— एवं भगवन्माहात्म्यं स्मृत्वा भगवन्तं नमस्यति **यो दुर्विमर्शेति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य का स्मरण कर भगवान् को 'यों दुर्विमर्श' श्लोक में नमन करते हैं—

श्लोक—यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥२६॥

श्लोकार्थ—जिसके मार्ग का विचार करना भी अशक्य है, वैसी अपनी माया से यह जगत् रचकर अनन्तर उसमें प्रविष्ट होकर जो ईश्वर गुणों का विभाग करते हैं और जो समझ में न आने वाले इस संसार चक्र को गति देते हैं, उस परमेश्वर को नमस्कार है ॥२६॥

सुबोधिनी—पूर्णो भगवान् कथमवतीर्णः किमर्थं वा अवतीर्ण इति सन्देहं वारयन् नमस्यति । दुःखेनापि विमर्शो विचारो न यस्येति । एतादृशः पन्था यस्य । मन्त्रादि वान्यसामर्थ्यपक्षं व्यावर्तयति । **निजेति** । भगवद्धर्माणामपि जिज्ञासा अशक्या । यथा मायाया मार्गस्यापि, तत्र भगवतो विमर्शं को वा करिष्यति । 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति निषेधश्च । एतादृश्या मायया लोके कपटत्वेन प्रसिद्धयापीदं प्रसिद्धं जगत् सृष्ट्वा तत्र स्वयं सत्यस्वरूपः प्रविष्टः । गुणान् सत्त्वादीन् उच्चनीचभावेन भजते पृथक्करोति । यस्या मार्ग एव न ज्ञायते तया किं कश्चित् कर्तुं समर्थः, मायासृष्टं वा कश्चित्प्रवेष्टुं प्रविश्य वा तुल्ये उच्चनीचतां संपादयितुम् । अतो महानुभावो भगवानिति तस्मै नमः। किञ्च । श्रुतौ काण्डद्वये पञ्चरात्रे इतिहासपुराणेषु च सहस्रधा सृष्टिर्निरूपिता । अतो केन साधनेन कथमेवं करोतीति **दुरवबोधो विहारतन्त्रः** क्रीडापरिकरो यस्य संसारस्य, तस्य चक्रं तस्यापि गतिर्यस्मात् तत्र वा गतिर्यस्येति । भगवतः संसारः अहन्तामतात्मकः न लौकिकवत् । इच्छया सर्वं जायत इत्यतो लीलार्थमित्यध्यवसीयते । भगवतोवतारः भगवच्छास्त्रं भगवदीयाः पुरुषाः पदार्थाश्च तेषां साधारणोपयोगाभावात् किमर्थं करणमिति नाशङ्कनीयम् । दुरवबोधत्वादेव, अतो भगवतः कार्यं जगद् भगवल्लीला वैष्णवप्रकाश्चेति । उभयोर्दुर्ज्ञेयत्वात् परम एवेश्वरो भगवानीश्वरादेवालौकिकात् परमेश्वर उभयालौकिक इति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—अब अक्रूरजी भगवान् को नमस्कार करते हैं नमस्कार करने से पूर्ण भगवान् कैसे प्रकट हुए अथवा क्यों अवतार लिया । मनुष्यों की इस शङ्का को मिटाना है, जिस भगवान् की माया के मार्ग का कठिनता से भी विचार नहीं हो सकता है जहां मन्त्र आदि की शक्ति भी कुछ काम नहीं कर सकती है, जब आपकी ऐसी माया है जिसका पता नहीं लगता है, भगवान् के धर्मो की भी जिज्ञासा अशक्य है जब माया के मार्ग का ज्ञान होना कठिन है, तब भगवान् का विचार कौन कर सकेगा ? इसलिए ही कहा है कि अलौकिक भावों का तर्क से विचार नहीं करना चाहिए, लोक में कपट रूप से प्रसिद्ध माया से यह प्रसिद्ध जगत् बनाकर उसमें स्वयं सत्य रूप से प्रविष्ट हुए हैं, प्रवेश के अनन्तर सत्व आदि गुणों को उच्च और नीच भाव से पृथक् करते हैं, जिसके मार्ग का ही ज्ञान नहीं है, उससे कोई कुछ करा सकता है ? जो माया से बना है उसमें कोई प्रवेश करने के लिए

अथवा प्रवेश कर जो तुल्य है उसको उच्च नीच करने में कोई समर्थ है ? नहीं समर्थ है अतः भगवान् अनुभाव वाले हैं, उनको नमस्कार है और विशेष कहते हैं कि श्रुति के दोनों काण्डों में पञ्चरात्र तथा इतिहास और पुराणों में सृष्टि के हजारों प्रकार कहे हैं, अतः किस साधन से और यों कैसे करते हैं यह संसार चक्र की क्रीड़ा के तन्त्र का समझना कठिन है ऐसे की भी गति जिससे होती है। भगवान् का अहन्ता ममतात्मक संसार लौकिक संसार की भांति नहीं है, यह सर्व लीला इच्छा से ही होती है यों निश्चय पूर्वक समझा जाता है भगवान् के अवतार, भगवत् शास्त्र भगवदीय पुरुष और भगवदीय पदार्थ इन सबों का साधारण उपयोग नहीं होता हैं, तो यह शङ्का भी नहीं करनी, किये, क्यों किये हैं, ये किस लिये किये, जिसको कोई नहीं जान सकता है, अतः भगवान् का कार्य रूप जगत्, भगवान् की लीला और वैष्णवों का प्रकार दुर्बोध है, आप और मैं दोनों इनको नहीं जान सकते हैं, कारण कि भगवान् परम ईश्वर अलौकिक और ईश्वर होने से ही भगवान् परमेश्वर हैं अतः माया और संसार से अथवा कार्य और कारण से वह परमेश्वर अलौकिक है ॥२९॥

आभास—अनेन भगवतः संसारोयं भगवदादयोस्मदादयश्च तदिच्छयैव प्रवर्तितुं योग्याः, न तु स्वेच्छयेति। उपदेशो वा ज्ञानं वा न विचारणीयमिति तूष्णीं सर्वैः स्थातव्यमित्याभिप्रायं बुध्वा ततो निर्गत इत्याह **इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायमिति।**

आभासार्थ - यह संसार भगवान् का है, आप और हम सब को उसकी इच्छा के अनुसार ही चलना चाहिये, न कि अपनी इच्छा से, उपदेश का ज्ञान, किसी का भी विचार नहीं करना चाहिए, सब को मौन धारण करनी चाहिए इस अभिप्राय को समझकर अक्रूर वहां से जाने लगा, इसको वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्यभिप्रेत्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः।**
सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार राजा के अभिप्राय को जान कर वे अक्रूरजी मित्रों की आज्ञा लेकर पुनः मथुरा लौट गए ॥३०॥

सुबोधिनी—तस्य तद्वाक्यानङ्गीकारे हेतुद्वयमाह **नृपतेरिति। स यादव** इति। राजवाक्यमङ्गीकर्तव्यम्। यदुवंशे भगवदवतारात् यादवेश्च सुतरां तदङ्गीकर्तव्यम्। तदुत्कर्ष एवोक्त इति, ततोत्रापि लौकिकन्यायेन **सुहृद्भिः** भीष्मादिभिः **सम्यगनुज्ञातो यदुपुरीं मथुरामगात्** ॥३०॥

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र ने अक्रूरजी का कहना नहीं माना उसके दो कारण है-१ धृतराष्ट्र राजा है, राजा स्वतन्त्र है किसी का कहा माने वा न माने, २ अक्रूर यादव है, राजा का वाक्य तो अङ्गीकार करना चाहिए, यदुवंश में भगवान् ने अवतार लिया है अतः उनको तो अवश्य मानना चाहिए, इसमें ही उनका उत्कर्ष है, पश्चात् यहां भी लौकिक न्याय से भीष्म आदि सुहृदों की आज्ञा प्राप्त कर यादवों की मथुरा में गए ॥३०॥

श्लोक—**शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।**
पाण्डवान्प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे कौरव्य ! जिस कार्य के लिए अक्रूर को हस्तिनापुर भेजा था, वह कार्य कर आए, अब अक्रूर धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति क्या आशय है ? वह राम और कृष्ण को कहने लगे ॥३१॥

सुबोधिनी—स्वयं केवलमाज्ञाकारी न स्वतन्त्र इति ज्ञापयितुं रामकृष्णयोः स्थाने **शशंस**। धृतराष्ट्रस्य विशेषेण चेष्टितं **पाण्डवान् प्रति** मारणपर्यन्तमुद्योगम् । ननु सतामेतदयुक्तमिति चेत्तत्राह **यदर्थं स्वयं प्रेषित** इति। अधिकारिणो नायं दोषः, **कौरव्येति** विश्वासार्थम्, **स्वयं प्रेषित** इत्यन्यद्वारापि कथनं व्यावर्तितम् । अन्येन पूर्वार्धान्तप्रकरणेनाग्रे भगवतैव कर्तव्यमिति ज्ञापितम् । एतावत्पर्यन्तं न साक्षाद्भगवता किञ्चित्कृतं किन्त्वन्यानुरोधेनेति । अतो भगवतो लीलाद्वयमन्यानुरोधेन करणं स्वतःकरणमिति भगवतो भक्तानुरोधो निरूपितः ॥३१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धपूर्वार्धे षट्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी रामकृष्ण के स्थान पर जा कर सब समाचार कहने लगे क्योंकि अक्रूरजी आज्ञा पालन करने वाले हैं स्वतन्त्र नहीं है, धृतराष्ट्र का हार्दिक आशय पाण्डवों को मारने तक का था वह सर्व सुनाने लगे, सत्पुरुषों को यों गुप्त विचार भी प्रकट करना योग्य नहीं है जिसके उत्तर में कहते हैं कि जिसके जानने के लिए ही भेजे गए थे अतः उसको कुछ भी गुप्त हो वह बताना ही चाहिए, सर्व बताने में अधिकारी को कोई दोष नहीं लगता है, राजा को कौरव्य ! यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है भगवान् ने स्वयं अक्रूर को इस कार्य करने के लिए भेजा था अतः उनको ही स्वयं सर्व समाचार लाकर स्वयं ही को बताना है, नहीं कि दूसरे के द्वारा, इस प्रकरण के अनन्तर स्वयं भगवान् को ही करना है, अब तक तो स्वय भगवान् ने कुछ भी नहीं किया है जो कुछ किया है वह दूसरों के द्वारा किया है, भगवान् की लीलाएँ दो प्रकार की है— १. अपनी इच्छानुसार करना २. दूसरो के कहने के अनुसार करना, यों भगवान् का भक्तानुसरण कहा है ।३१॥

अध्याय के लेख की समाप्ति करते हुए गोस्वामी वल्लभलालजी निम्न तीन कारिकाओं में अपना भाव प्रकट करते हैं: —

कारिका—**इत्येवं भगवल्लीला भक्तविश्वासदायिनी ।**
निरूपितातियत्नेन कृष्णपादाम्बुजाश्रया ॥१॥

कारिकार्थ—कारिका में कहते हैं कि यों इस प्रकार इस विवृत्ति द्वारा भक्तों में विश्वास

उत्पन्न करने वाली, श्रीकृष्ण के चरण कमलों में आश्रय देने वाली भगवल्लीला विशेष प्रयत्न से निरूपण की है ॥१॥

कारिका—सर्वेषु पुष्टहृदयेषु निवेदयामि मार्गो यदा भगवतो भवतामभीष्टः ।
भक्तिप्रकारसहितो हरिभावयुक्तो ज्ञेयस्तदा विवृत्तिरेव सदा विचिन्त्या ॥२॥

कारिकार्थ—सकल पुष्टिस्थ जीवों को कहता हूँ कि जो आपको भगवन्मार्ग प्रिय होवे तो भगवद्भाव वाले हृदय से यों जान लो कि भक्तिमार्गीय प्रकार से युक्त यह मार्ग है। फिर इस विवृत्ति का सदा चिन्तन करते रहो ॥२॥

कारिका—दशमस्कन्धविवृत्तिः पूर्वार्धे सुनिरूपिता ।
कृष्णपादाम्बुजे न्यस्तः श्रीपुष्पाञ्जलिरुज्ज्वलः ॥३॥

कारिकार्थ—पूर्वार्ध में जो दशम स्कन्ध विवृत्ति रूप पुष्प गुच्छ अच्छी तरह से तैयार किया है, उस (विवृत्ति) को श्री कृष्ण चरणारविन्द में उज्ज्वल पुष्पाञ्जलि-रूप से समर्पण करता हूँ ॥३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का सातवाँ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में तथा पिछले ६ठे अध्याय में वर्णित भगवल्लीला के निम्न पद का अवलोकन करें

राग परज

भक्तवछल वसुदेव कुमार ।
चले एक दिन सुफलक सुत कैं, पांडव हेत विचार ॥
मिल्यौ सु आइ पाइ सुधि मग मैं, बार बार परि पाइ ।
गयौ लिवाइ सुभग मदिर मेँ, प्रेम न बरन्यौ जाइ ॥
चरन पखारि धारि जल सिर पर, पुनि पुनि दृगनि लगाइ ।
विविध सुगंध चीर आभूषन, आगेँ धरे बनाइ ॥
धन्य धन्य मैं, धन्य गेह मम, धनि धनि भाग हमारे ।
जो प्रभु ज्ञान ध्यान नहिँ आवत, तिन मम गृह पग धारे ॥
प्रभु तुम माया अगम अगोचर, लहि न सकत कोउ पार ।
दीजै भक्ति अनन्य कृपा करि, होइ सु मम उद्धार ।'

अरू जिहि कारन प्रभु पग धारे, कहियै सोइ विचार ।
करहुँ ताहि तुम्हरी किरपा तें, आयसु, माथैं धार ॥
यह अक्रूर दसा जो सुमिरै, सिखै सुनै अरु गावै ।
अर्थ धर्म कामना मुक्ति फल, चारि पदारथ पावै ॥
हरि जू कह्यौ मनोरथ तुम्हरो, करिहैं श्री भगवान ।
जो जाँचत सोई सो पावत, यह निश्चै जिय जान ॥
तुम जानत हौ पांडव के सुत हैं अति हितू हमारे ।
कुपरुति अन्ध मोह बस तिनकौं, देत सदा दुख भारे ॥
तात जाइ उनकौं तुम भेंटहु, हमरी कुसल सुनावहु ।
बहुरौ समाचार सब उनके, लै हम पै चलि आवहु ॥
यह कहि स्याम राम ऊधौ मिलि, अपने भवन सिधारे ।
सुफलक सुत आयसु माथैं धरि, पाँडव गृह पग धारे ॥

पहिलै कौरव पति सौं भेंटे, पुनि पाँडव गृह आए ।
पकरि चरन कुन्ती के पुनि पुनि, सब गहि गरैं लगाए ॥
कुसल भाषि सब जादोकुल की, प्रभु के कहे सन्देस ।
भयौ परम सन्तोष मिले सौं, मिटे सकल अन्देस ॥
कुन्ती कह्यौ स्याम सौं कहियो, हम हैं सरन तुम्हारी ।
कुरुपति अन्ध जु मम पुत्रनि कौ, देत सदा दुख भारी ॥

पुनि कुरुपति सौं मिलि सुफलक सुत, कह्यौ बहुत समुझाइ ।
चारि दिवस के जीवन ऊपर, तुम कत करत अन्याइ ॥
अन्याइ कौ बास नरक मैं, यह जानत सब कोइ ।
गर्व प्रहारी हैं त्रिभुवनपति, जो कछु करैं सु होइ ॥
कुरुपति कह्यौ मैं हुँ जानत हौं, पै मेरौ न बसाइ ।
नमस्कार मेरौ जदुपति सौं, कहियौ परि कै पाइ ॥
सुफलक सुत सब कथा तहाँ की, आइ स्याम सौं भाषी ।
सूरदास प्रभु सुनि सुनि तासौं, हृदय आपनैं राखी ॥

॥ इति श्री सूरसागर पूर्वार्ध समाप्त ॥

श्लोकानामकारादिवर्णानुक्रमः

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
अक्रूर आगतः किं वा	४३	४८	२०२
अक्रूरभवनं कृष्णः	४५	१२	३५६
अग्न्यर्कातिथिगोविप्र	४३	१२	१६३
अर्चित्वा शिरसानम्य	४५	१६	३५९
अथ कृष्णश्च रामश्च	४०	१	३
अथ गोपीरनुज्ञाप्य	४४	६५	३३४
अथ नन्दं समासाद्य	४२	२०	११७
अथ विज्ञाय भगवान्	४५	१	३४५
अथ शूरसुतो राजा	४२	२६	१२३
अथो गुरुकुले वासम्	४२	३१	१२७
अथोद्धवो निशम्यैवम्	४४	२२	२५५
अद्य श नो वसतयः	४५	२५	३७०
अधर्मोपचितं वित्तम्	४६	२२	४०९
अनागसां त्वं भूतानाम्	४१	४७	८९
अन्यथा गोव्रजे तस्य	४४	५	२१३
अन्यथा त्वाचरन् लोके	४६	१९	४०६
अन्येष्वर्थकृता मैत्री	४४	६	११४
अपि बत मधुपुर्याम्	४४	२१	२५३
अपि स्मरति नः साधो	४४	४३	२८६
अपि स्मरति नः कृष्णः	४३	१८	१६७
अपि स्मरति नः सौम्य	४६	८	३९५
अप्यायास्यति गोविन्दः	४३	१९	१६८
अप्येष्यतीह दाशार्हः	४४	४५	२८९
अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नः	४०	४	५
अयं चास्याग्रजः श्रीमान्	४०	३०	३३
अरत्नी द्वे अरत्निभ्याम्	४१	३	४७
अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः	४४	२३	२५६
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या	४२	३६	१३०
आगमिष्यत्यदीर्घेण	४३	३४	१८५
आत्मन्येवात्मनात्मानम्	४४	३१	२६८
आत्मसृष्टमिदं विश्वम्	४५	१९	३६३
आत्मा ज्ञानमयः शुद्धः	४४	३२	२७०

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
आसामहो चरणरेणुजुषाम्	४४	६२	३२९
आस्ते तेनाहृतो नूनम्	४२	४१	१४०
आह चास्मान् महाराज	४२	१३	१०८
आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया	४५	६	३५०
आहोष्यतामिह प्रेष्ठ	४५	९	३५३
इतस्ततो विलङ्घद्भिः	४३	१०	१६१
इति गोप्यो हि गोविन्दे	४४	९	२२०
इति मायामनुष्यस्य	४२	१०	१०५
इति संस्मृत्य संस्मृत्य	४३	२७	१७६
इत्यक्रूरं समादिश्य	४५	३६	३८३
इत्यर्चितः संस्तुतश्च	४५	२८	३७६
इत्यनुस्मृत्य स्वजनम्	४६	१४	४०१
इत्यभिप्रेत्य नृपतेः	४६	३०	४१९
इत्युक्त उद्धवो राजन्	४३	७	१५८
इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य	४२	२५	१२३
ईश्वरस्य विधिं को नु	४६	२८	४१६
उत्थापनैरुन्नयनैः	४१	५	४८
उद्गायतीनामरविन्द	४३	४६	२००
उपश्रुत्यगिरस्तासाम्	४१	१८	६२
उवाच पितरावेत्य	४२	२	९५
उवाचावनतः कृष्णम्	४२	४४	१४४
उवास कतिचिन्मासान्	४४	५५	३०२
उवास कतिचिन्मासान्	४६	४	३९२
ऊचुः परस्परं ते वै	४०	२२	२७
एकः प्रसूयते जन्तुः	४६	२१	४०८
एतदन्तः समाम्नायोः	४४	३४	२७२
एताः परं तनुभृतो भुवि	४४	५९	३०६
एतौ भगवतः साक्षात्	४०	२३	२८
एतौ हि विश्वस्य च	४३	३१	१७९
एवमाश्वास्य पितरौ	४२	१२	१०७
एवं चर्चितसङ्कल्पोः	४१	१	४५
एवं निर्भर्त्सितोऽक्रूरः	४०	५	६

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
एवं निशा सा व्रुवतो	४३	४४	१९७
एवं संभाषमाणासु	४१	१७	६२
एवं प्रियतमादिष्टमा	४४	३९	२८१
एवं विकत्थमाने वै	४१	३४	७६
एवं संप्रार्थितो गोपैः	४४	६९	३३७
एवं सान्त्वय्य भगवान्	४२	२४	१२२
एष वै किल देवक्याम्	४०	२४	२९
क उत्सहेत सन्त्यक्तुम्	४४	४९	२९४
कच्चिदङ्ग महाभाग	४३	१६	१६५
कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य	४४	४१	२८३
कथं रतिविशेषज्ञः	४४	४२	२८५
कः पण्डितस्त्वदपरम्	४५	२६	३७२
करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य	४०	६	७
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानाम्	४४	६८	३३५
कस्मात्कृष्ण इहायाति	४४	४६	२९१
कंसं नागायुतप्राणम्	४३	२४	१७३
काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा	४४	११	२२२
किं न पश्यत रामस्य	४१	१२	५४
किमस्माभिर्वनौकोभिः	४४	४७	२९२
किमिह बहुषडङ्घ्रे गायसि	४४	१४	२३४
किं साधयिष्यत्यस्माभिः	४३	४९	२०३
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्नः	४६	६	३९३
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्	४६	११	३९७
कृष्णसङ्कर्षणभुजैः	४२	१७	११३
कृष्णाय प्रणिपत्याह	४४	७०	३३८
क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ	४१	८	५१
क्वेमाः स्त्रियोवनचरीः	४४	६०	३०९
खगा वीतफलं वृक्षम्	४४	८	२१८
गच्छ जानीहि तद्वृत्तम्	४५	३५	३८३
गच्छतं स्वगृहं वीरौ	४२	४८	१४७
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य	४३	३	१५३
गत्या ललितयोदार	४४	५२	२९७
गायन्त्यः प्रियकर्माणि	४४	१०	२२०
गायन्तीभिश्च कर्माणि	४३	११	१६२

	अध्याय	श्लोक सं	पृष्ठ सं.
गावः सपाला एतेन	४०	२६	३०
गुरुणैवमनुज्ञातौ	४२	४९	१४७
गुरुपुत्रमिहानीतम्	४२	४५	१४४
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य	४५	३	३४७
गोपान् वयस्यानाकृष्य	४१	२९	७१
गोप्यस्तपः किमचरन्	४१	१४	५७
गोप्योस्यनित्यमुदित	४०	२८	३२
चाणूरे मुष्टिके कूटे	४१	२८	७०
जना प्रजह्रुः सर्वे	४१	३०	७२
जनेष्वेवं व्रुवाणेषु	४०	३१	३४
जलं प्रविश्य तं हत्वा	४२	४१	१४२
जानीमस्त्वां यदुपतेः	४४	४	२११
तं खड्गपाणिर्विचरन्तम्	४१	३६	७७
ततः कूटमनुप्राप्तम्	४१	२६	६९
ततश्च लब्धसंस्कारौ	४२	२९	१२५
ततः संयमिनीं नाम	४२	४२	१४२
ततस्ताः कृष्ण सन्देशैः	४४	५४	३०१
ततोभिमुखमभ्येत्य	४०	१०	११
तत्र प्रवयसोप्यास	४२	१९	११६
तत्क्षन्तुमर्हथस्तात	४२	९	१०३
तथातिरभसांस्तांस्तु	४१	४१	८३
तथापि सूनृता सौम्य	४६	२७	४१५
तथेति तेनोपानीतम्	४२	४६	१४१
तथेत्यथारुह्य महारथो	४२	३८	१३८
तथैव मुष्टिकः पूर्वम्	४१	२४	६७
तथोद्धवः साधुतया	४५	४	३४८
तद्बलाबलवद्युद्धम्	४१	६	४९
तन्नावकल्पयोः कंसात	४२	८	१०२
तन्निर्गतं समासाद्य	४४	६६	३३५
तन्निशम्याब्रवीत्कृष्णो	४०	३६	३८
तं प्रश्रयेणावनताः सुस	४४	३	२१०
तमागतं समागम्य	४३	४१	१६४
तमापतन्तमासाद्य	४०	१३	१३
तमापतन्तमालोक्य	४१	३५	७६

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
तमाह भगवानाशु	४२	३९	१४०
तमाह भगवान् प्रेष्ठं	४३	२	१५२
तयोरित्थं भगवति	४३	२९	१७७
तयोर्द्विजवरस्तुष्टः	४२	३३	१२९
तं वीक्ष्य कृष्णानुचरम्	४४	१	२०७
तं सम्परेतं विचकर्ष	४१	३८	७९
तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिः	४०	४०	४०
तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयम्	४०	३५	३७
तस्माल्लोकमिमं राजन्	४६	२५	४१३
तस्मिन् भवन्तावखिला	४३	३३	१८३
तस्यानुजा भ्रातरोष्टौ	४१	४०	८२
तस्यै कामवरं दत्वा	४५	१०	३५४
तर्ह्येव हि शलः कृष्णः	४१	२७	६९
ताः किं निशाः स्मरति	४४	४४	२८८
ता दीपदीप्तैर्मणिभि	४३	४५	१९९
ता मन्मनस्काः मत्प्राणा	४३	४	१५४
तालत्रयं महासारम्	४३	२५	१७४
तेज ओजो बलं वीर्यम्	४६	५	३९३
तेभ्योदाद्दक्षिणा गावो	४२	२७	१२४
तेषां स्त्रियो महाराज	४१	४३	८५
तेषु राजाम्बिकापुत्रो	४५	३४	३८१
तैस्तैर्नियुद्धविधिभि	४१	१९	६३
तौ रेजतू रङ्गगतौ	४०	१९	२३
त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च	४५	२९	३७७
त्वया विरहिता पत्या	४१	४६	८८
त्वयोदितोऽयं जगतो	४५	२३	२६८
दानव्रततपोहोम	४४	२४	२५७
दावाग्नेर्वातिवर्षाच्च	४२	२०	१६९
दिवि भुवि च रसायाम्	४४	१५	२३८
दिष्ट्या कंसो हतः	४२	१७	१६६
दिष्ट्या जनार्दन	४५	२७	३७५
दिष्ट्या पापो हतः	४५	१७	३६०
दिष्ट्या पुत्रान् पतीन्	४४	२६	२५९
दिष्ट्या हितो हतः	४४	४०	२८२

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
दुराराध्यं समाराध्य	४५	११	३५५
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भ	४२	४३	१९६
दृष्ट्वैवमादिगोपीनाम्	४४	५८	३०५
देवकी वसुदेवश्च	४१	५१	९२
देहाद्युपाधेरनि	४५	२२	३६७
द्विजस्तयोस्तम्	४२	३७	१३७
धर्मेण पालयन्नुर्वीं	४६	१८	४०५
धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य	४१	९	५१
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण	४३	६	१५७
न चास्य कर्म वा लोके	४३	३९	१९१
ननाम कृष्णं रामं च	४५	१४	३५८
न बालो न किशोरस्तवं	४०	३९	४०
नमः कृष्णाय शुद्धाय	४६	१३	४००
न माता न पिता तस्य	४३	३८	१९०
न लब्धो दैवहतयो	४२	४	९७
न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः	४१	१०	५२
न ह्यम्मयानि तीर्थानि	४५	३१	३७९
न ह्यस्यास्ति प्रियः	४३	३७	१८८
नाचलत्तत्प्रहारेण	४१	२२	६५
नान्यत्तव पदाम्भोजात्	४६	१२	३९९
नायं श्रियोङ्ग उ नितान्त	४४	६१	३२७
नास्मत्तो युवयोस्तात	४२	३	९६
नित्यं प्रमुदिता गोपा	४०	३४	३७
निरीक्ष्य तावुत्तमपुरुषौ	४०	२०	२५
निःसारयत दुर्वृत्तौ	४१	३२	७४
निःस्वं त्यजन्ति गणिका	४४	७	२१६
नेह चात्यन्तसंवासः	४६	२०	४०७
नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि	४१	४२	८४
नैवाहार्षमहं देव	४२	४०	१४०
पतितं तं पदाक्रम्य	४०	१४	१३
परिभ्रामणविक्षेप	४१	४	४७
परं सौख्यं हि नैराश्यम्	४४	४८	२९३
पादावनेजनीरापो	४५	१५	३५८
पितरावुपलब्धार्थौ	४२	१	९४

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
पितर्युपरते बालाः	४५	३३	३८१
पितर्युभाभ्यां स्निग्धाभ्याम्	४२	२१	११८
पिबन्त इवचक्षुर्भ्यां	४०	२१	२६
पुच्छे प्रगृह्यातिबलम्	४०	८	९
पुण्या बतं व्रजभुवो	४१	१३	५५
पुनः पुनः स्मारयन्ति	४४	५१	२९६
पुष्णाति यानधर्मेण	४६	२३	४१०
पूतनानेन नीतान्तम्	४०	२५	३०
पृथा तु भ्रातरं प्राप्तम्	४६	७	३९४
प्रगृह्य केशेषु चलत्किं	४१	३७	७८
प्रजा भोजपतेरस्य	४०	३७	३९
प्रभवो सर्वविद्यानाम्	४२	३०	१२६
प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टः	४३	२६	१७५
प्रवेपितः सरुधिरमुद्वमन्	४१	२५	६८
प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशत	४१	१६	६०
प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्नि	४३	८	१५९
प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः	४०	३३	३६
प्रियसख पुनरागाः	४४	२०	२५१
बद्ध्वा परिकरं शौरिः	४०	३	४
बाला वयं तुल्यबलैः	४०	३८	३९
भगवत्युत्तमश्लोके	४४	२५	२५८
भगवत्युदिते सूर्ये	४३	४७	२०१
भगवद्गात्रनिष्पातैः	४१	२०	६४
भवतीनां वियोगो मे	४४	२९	२६३
भवद्विधा महाभागा	४५	३०	३७९
भूपृष्ठे पोथयामास	४१	२३	६५
भोजितं परमान्नेन	४२	१५	१६४
भो भो वैचित्रवीर्य त्वं	४६	१७	४०४
भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः	४६	९	३९६
मधुप कितवबन्धो	४४	१२	२२४
मनसो वृत्तयो नः स्युः	४४	६७	३३५
मन्ये कृष्णं च रामं च	४१	२३	१७२
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे	४३	५	१५६
मयि भृत्य उपासीने	४२	१४	११०
मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं	४४	३७	२७७
मल्लानामशनिर्नृणाम्	४०	१७	१६
महानयं बताधर्मः	४१	७	५०
महार्होपस्करैराढ्यम्	४५	२	३४६
मा खिद्यतं महाभागौ	४३	३६	१८८
मातरं पितरं चैव	४१	५०	९१
मातरं पितरं वृद्धम्	४२	७	१०१
मृगयुरिव कपीन्द्रम्	४४	१७	२४३
मृतकं द्विपमुत्सृज्य	४०	१५	१४
यत्त्वहं भवतीनां वै	४४	३५	२७४
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन	४४	३६	२७५
यथा भूतानि भूतेषु	४४	३०	२६६
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या	४३	४१	१९३
यथा वदति कल्याणीम्	४६	२६	४१४
यथावदुपसंगम्य	४६	३	३९१
यथा हि भूतेषु चराचरेषु	४५	२०	३६४
यथोपसाद्य तौ दान्तौ	४२	३२	१२८
यदनुचरितलीला	४४	१८	२४७
यशोदा वर्ण्यमानानि	४३	२८	१७६
यस्तयोरात्मजः कल्प	४२	६	१००
यस्मिन् जनः प्राणवियोग	४३	३२	१८२
याः कृष्णरामजन्मर्क्षे	४२	८	१२४
यात यूयं व्रजं तात	४२	२३	१२१
या दोहनेवहनने मथनो	४१	१५	५९
या मया क्रीडता रात्र्याम्	४४	३८	२७८
यावन्त्यहानि नन्दस्य	४४	५६	३०४
या वै श्रियार्चितमजादिभि	४४	६३	३३१
यास्यन्ना जानमभ्येत्य	४६	१६	४०३
युवयोरेव नैवायम्	४३	४२	१९५
युवां प्रधानपुरुषौ	४५	१८	३६१
युवां श्लाघ्यतमौ नूनम्	४३	३०	१७८
येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत	४४	३३	२७१
यो दुर्विमर्शपथया निजमा	४६	२९	४१८
रङ्गद्वारं समासाद्य	४०	२	४

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
राजयोषित आश्वास्य	४१	४६	६०
वदन्त्यनेन वंशोऽयं	४०	२६	३२
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणाम्	४४	६४	३३३
वयमृतमिव जिह्मव्याहृतम्	४४	१६	२४६
वल्गतः शत्रुमभितः	४१	११	५३
वसुदेवस्तु दुर्मेधा	४१	३३	७५
वासितार्थेऽभियुद्धर्चाद्धि	४३	६	१६१
विसृज शिरसि पादम्	४४	१६	२४०
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता	४२	१८	११४
वृत्तौ गोपैः कतिपयैः	४०	१६	१५
वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री	४३	१	१५१
शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य	४२	४३	१४३
शयानान् वीरशय्यायाम्	४१	४४	८६
शशंस रामकृष्णाभ्याम्	४६	३१	४२०
शुचिस्मितः कोऽयम	४४	२	२०६
श्रूयतां प्रियसन्देशो	४४	२८	२६२
सकृदधरसुधां स्वाम्	४४	१३	२३०
संक्रुद्धस्तमचक्षाणो	४०	७	८
स गत्वाहास्तिनपुरम्	४६	१	३६०
स तान् नरवरश्रेष्ठान्	४५	१३	३५७
स त्वं प्रमोऽद्य वसुदेव	४५	२४	३६६
सत्त्वं रजस्तम इति	४३	४०	१६२
स धावन् क्रीडया भूमौ	४०	११	११
स नित्यदोद्विग्नधिया	४१	३६	८१
स पर्यावर्तमानेन	४०	६	१०
सपत्नमध्ये शोचन्तीम्	४६	१०	३६७
सप्ताहमेकहस्तेन	४०	२७	३१
स पिता सा च जननी	४२	२२	१२०
स भवान् सुहृदां वै	४५	३२	३८०
सभाजितान् समाश्वास्य	४२	१६	११२

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
समदुःखसुखोक्रूरो	४६	१५	४०२
समानन्दन् प्रजाः सर्वा	४२	५०	१४८
सम्यक् संपादितो वत्सौ	४२	४७	१४६
सरहस्यं धनुर्वेदम्	४२	३४	१२६
सरिच्छैलवनोद्देशान्	४२	२२	१७२
सरिच्छैलवनोद्देशा गावो	४४	५०	२६५
सरिद्वनगिरिद्रोणीः	४४	५७	३०४
सर्वं तदमरश्रेष्ठो	४२	३५	१३०
सर्वतः पुष्पितवनम्	४२	१३	१६४
सर्वात्मभावोधिगतो	४४	२७	२६१
सर्वार्थसंभवो देहो	४२	५	६६
सर्वान् स्वञ्ज्ञातिसम्ष	४२	१५	१११
सर्वेषामिह भूतानाम्	४१	४८	८६
स श्येनवेग उत्पत्य	४१	२१	६४
सह पुत्रं च बाह्लीकम्	४६	२	३६१
सानङ्गतप्तकुचयो	४५	७	३५१
सा मज्जनालेपदुकूल	४५	५	३४६
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः	४२	११	१०६
सृजस्यदो लुम्पसि पासि	४५	२१	३६५
सैवं कैवल्यनाथं त	४५	८	३५२
स्मरतां कृष्णवीर्याणि	४३	२१	१७०
स्वयं किल्बिषमादाय	४६	२४	४११
स्वविक्रमे प्रतिहते	४०	१२	१२
हतं कुवलयापीडम्	४०	१८	२२
हतेषु मल्लवर्येषु	४१	३१	७३
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये	४३	३५	१८७
हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा	४१	२	४६
हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ	४१	४५	८७
हे नन्दसूनो हे राम	४०	३२	३५
हे नाथ हे रमानाथ	४४	५३	२६६

महात्म्य दीनता एवं आश्रय के पद

राग टोडी

रे मन कृष्ण नाम कह लीजे।
गुरु के वचन अटल कर मानहु, साधु समागम कीजे॥
पढिये सुनिये भक्ति भागवत और कहा कथि कीजे।
कृष्णनाम बिनु जन्मवादि ही वृथा जीवन कहा जीजे॥
कृष्णनाम रस बह्यो जात है तृषावन्त होय पीजे।
सूरदास हरि शरण ता किये जनम सफल करि लीजे॥

हरि बिनु अपनो को संसार।
माया लोभ मोह यों चाढे काल नदी की धार॥
ज्यों जन सङ्गति होत नांउ में रहतन परसे पार।
तैसे धन दारा सुख सम्पत्ति बिद्युरत लगै न वार॥
मानुष जनम नाम नर हरि को पैये न बारम्बार।
ए तनु छन भंगुर के कारन कहा करै गरबु गंवार॥
जैसे अन्ध अन्ध कूप में गलत न खाल पनार।
तैसें हि सूर बहुत उपदेशें सुनि सुनि गए कै बार॥

मौसो पतितन और गुसांई।
ए औगुण मोपे कबहू नहिं छूटे बहुत पच्यो अब तांई॥
जनम जनम हों रह्यो भ्रमित होय कपि गुंजा की नांई।
ता परसत गयो शीत न कबहू लेले निकट तपाई॥
लुब्ध्यो जाय कनक कामिनी ज्यों, शिशु देखत जलझाई।
जिह्वा स्वाद मीन लों डारचो सूझियो नहिं फंदाई॥
मुदित भयो सपने में जैसे, पाये निधि ही पराई।
जाग परे कु कछु हाथ न लाग्यो, ऐत सूर प्रभुताई॥

राग विहाग

भरोसो दृढ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जुग माहिं अंधेरो॥
साधन और नाहिं या कलि में जासों होय निवेरो।
सूर कहा कहे दुविध आंधरो बिना मोल को चेरो॥

॥ श्री हरिः ॥

शुद्धि-पत्र

राजस - प्रमेय - अवान्तर - प्रकरण अध्याय—१ से ७

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१५	जिसका	उसका
३	११	परिज्ञनाय	परिज्ञानाय
३	१२	निरोव	निरोधे
४	६	उत्वस्थानम्	उत्सवस्थानम्
४	१२	ह्यात्सव:	ह्यु त्सव:
६	१५	अथ	अद्य
६	२६–२६	२००	१००
११	६	शन्कोति	शक्नोति
१६	१२	स्वरूप:	स्वरूपम्
२०	८	अनतां	असतां
२४	१३	उपेक्षा	अपेक्षा
२५	११	अता	अतो
२८	४	नसुदेवस्य	वसुदेवस्य
२६	१७	व्यपहृत	व्यवहृत
३८	२८	शास्त्र	शस्त्र
४१	२७	बलिष्ठ	सो बलिष्ठ
४२	४	लोहा	लोट्
४४	१६	सतोगुण	सत्त्वगुण
४६	७	बलयुद्धमिति	बलवद् युद्धमिति
६८	७	थी	था
७३	७	कंस:	कंसं
६२	२७	४४वें	४१वें
१०६	२२	पास	पाश
१०७	३	ज्ञाना	ज्ञानाध्याय में
११६	५	का	भगवान् का
१३६	१२	शैय्या	शय्या
१३६	१३	मध्यायमे	मध्यापमेद्
१३७	२१	गुरु वं	गुरुत्वं
१३८	३०	देला	वेला
१३६	७	बालक	बालकस्य
१४१	२८	पञ्चविद्या	पञ्च अविद्या
१४६	६	दक्षिण	दक्षिणा
१५१	२६	मैं	मे
१५६	११	अंगस्तुति	अस्तुति
१६७	५	त्यापवत्	वत्
१६६	५	चेन्द्रत्वेन	चेन्द्रत्वेन
१७७	७	याकुल	व्याकुल
१८०	११	भयमेर	भयमेव
१८३	६	जिसकी	उसकी
१८४	५	हेतुश्च	त्माहेतुश्च
१६१	७	मित्र	मिश्र
१६६	२७	भगवद्भ्रण	भगवद्गुण
२०२	६	कथा कहनी	कथा नहीं कहनी
२०८	१४	ष्णानुचरं	कृष्णानुचरं
२१५	१७	अहरवे	यदहरेव
२१८	२६	द्विज:	द्विज:
२२२	२६	थं	अर्थं
२२४	१	स्पृशांहि	स्पृशाङ्घ्रि
२२४	१८	अंहि	अङ्घ्रि
२२७	१४	मात्र	मार्ग
२३४	२	चकणों	चरणों
२३४–३५		षडह्न	षडङ्घ्र
२३६	२३	मुपजायते	मुपजायते
२४०	२२	मेरे मस्तक पर जो बार बार पैर लगा रहे हो, वह बन्द कर दो।	अपने सिर पर बलात् रक्खे हुए मेरे पैरों को छोड़ दे।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४१	२३	मेरे शिर पर जबर्दस्ती जो पैर रखा है वह उठालो	तुमने अपने सिर पर जबर्दस्ती से जो मेरा पैर रक्खा है, उसे छोड़ दे
२४१		स्वामि	स्वामी
२४२	१०	ब्रह्मभाव मनुभाव मे आ सकता है किन्तु मनुभाव ब्रह्मभाव में नहीं आ सकता है	ब्रह्मभाव में मनुभाव आ सकता है, किन्तु मनुभाव में ब्रह्मभाव नहीं आ सकता है
२५३	७	सद्धि	सिद्धि
२६७	१	गोपियां उनका त्याग कर कहां रह सकेंगी ।	गोपियों को त्याग कर भगवान् कहाँ जायेंगे ?
२६७	३१	है रूप	रूप है
२६८	२९	सृजे हन्मि । नाशयाम्यनुपालये । पालयामि ।	सृजे । हन्मि-नाशयाम्यनु-पालये पालयामि ।
२७०	१	ब्रह्मधर्मा	ब्रह्मधर्म
२७७	२६	वृत्तयॉय:	वृत्तय:
२८८	१६	स्मरणि	स्मरति
३०९	४	बाध्य	साध्य
३१०	२५	तोम	रोम
३१७	२८	कारान्त	कारान्न
३२०	९	नियव	नियम
३२३	४	स्वदभावा: मे स्वद	रूढभावा: मे रूढ
३२४	९	जीर्ण होने	जीर्ण न होने
३२४	३३	सर्वान्मयभाव	सर्वात्मभाव
३२५	३४	इसमें	यहाँ
३२५	३७	तदाधिमृ	तदाधिम्
३२६	१२	वैमादि	वैवमादि
३२७	१९	लब्धाशिषो	लब्धाशिषो य
३२८	१९	मिलकर एकत्र	पडदेमें
३२९	१६	पतत्येव	पतत्येव न
३२९	२४	यांश्र	आर्य
३३०	५	व्यसाद्यै	व्यासाद्यै
३३२	१४	कृत्वापि कृत्वापि	कृत्वापि
३३२	२२	यदात्मति	यदात्मनि
३३७	९	म	मन
३३७	२५	मतिर्त:	मतिर्न:
३३८	१६	प्रमाण	प्रणाम
३४२	१४	जसौ	जैसे
३४३	१२	श्रीकृष्ण बलराम का यज्ञोपवीत	भगवान् का कुब्जा और अक्रूरजी के घर जाना
३४५	२१	करनी है	करनी ही है
३४७	१३-२४	घबरा गई	मुझे क्या करना है, यह भूल गई
३४८	२३	विरीधायत्ते:	विरोधापत्ते:
३४९	४	ननुव्रत	न्यनुव्रत
३५१	१९	जिसके	इसके
३५६	७	टुकटा	भीत
३५७	९	आयोग्य	अयोग्य
३५८	२	प्रत्युथाय	प्रत्युत्थाय
३६२	१९	प्रचुर्यं	प्राचुर्य
३६२	२२	कृतृनं	कृत्स्नं
३६५	१६	परन्त्रण	परतन्त्र
३६६	१६	सतोगुण	सत्त्वगुण
३६६	१७	रजो तमो और सतो	रजस्तम और सत्त्व
३६६	२३	सूतराम	सुतरां
३६६	२७	त्यध्वसीयते	त्यध्यवसीयते
३६८	८	ब्रह्मास्मी	ब्रह्मास्मीति
३७३	४	आत्मानपीति	आत्मानमपीति
३८३	२६	इत्यक्रूर	इत्यक्रूरं
३८४	१०	चतुश्पञ्चवारिंशा	पञ्चचत्वारिंशा
४०४	२९	पित:	दित:
४०९	६	सञ्चयकर बढा हुआ	सञ्चित
४१२	१५	साद्य	साथ
४२०	२५	गोस्वामी वल्लभ-लालजी	आचार्यचरण

श्री सुजानमणी प्रकाशन मंडल (रजिस्टर्ड)
जोधपुर (राजस्थान)